प्रकाशक—
बालचन्द्र श्रीश्रीमाल
मंत्री-श्री साधुमार्गी जैन
पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज
की सम्प्रदाय का
हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम (मालवा)

कागज और छपाई की लागत वर्तमान महायुद्ध के कारण मेंहगाई से इस पुस्तक का मूल्य आठ आने होते हैं। लेकिन मद्रास, हाल मुकाम-कुचेरा निवासी श्रीमान् सेठ ताराचन्दजी भागचन्दजी साहब गेलड़ा ने, सर्व साधारण इस पुस्तक से लाभ उठा सकें, इस दृष्टि से आधी लागत प्रदान करके, यह पुस्तक अर्द्ध मूल्य-चार आने में वितरण कराई है।

श्री जैन दर्शन में

'श्वेताम्बर तेरह-पन्थ'

सम्पादक—पं० शंकरप्रसादजी दीक्षित

प्रकाशक—बालचन्द्र श्रीश्रीमाल

मंत्री-श्री साधुमार्गी जैन

पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय

का

हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम (मालवा)

मुद्रक-दि डायमण्ड जुबिली (जैन) प्रेस, अजमेर.

अर्द्ध मूल्य— ।) चार आना

श्री वीर सं० २४६९
विक्रम सं० १९९९
ईस्वी सन् १९४२

प्रथमावृत्ति १०००

आठ आना

विषय सूचि

संसार में दुःख पाते हुए प्राणी को सुख प्राप्त करने के लिए धर्म ही प्रधान कारण है। अतः प्रत्येक प्राणी को धर्म का सेवन करना चाहिए।

साध्य धर्म सब का एक होने पर भी साधन में बहुत कुछ विचित्रता दिखाई पड़ती है। प्रत्येक मनुष्य अपनी २ रुचि के अनुसार धर्म के साधनों को स्वीकार कर उनका आराधन करता है। फिर भी विशिष्ट पुरुषों ने उनमें हिताहित और तथ्या-तथ्य का विचार करके जनता के कल्याणार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावानुसार मार्ग प्रदर्शन कराया, इस कारण जनता उन्हें अवतार के रूप में मानती व पूजती है।

विशिष्ट पुरुष परिस्थिति का विचार करके किसी एक तत्व को मुख्यता देकर उसका विशेष रूप से प्रतिपादन करते हैं और उसके प्रति पक्ष को गौण कर देते हैं। परन्तु परम्परा में उनके अनुयायी परिस्थिति एवं वातावरण बदल जाने पर भी उसी परिपाटी का अवलम्बन लेकर एकान्त रूप से उस तत्व का प्रतिपादन करते रहे हैं और दूसरों का विरोध करने लग जाते हैं, इसलिए वह तत्व जनता का हित करने के बदले अहित का कारण बन जाता है।

जैन दर्शन में भी यही नियम लागु होने से इसमें भी अनेक सम्प्रदायवाद चल पड़े हैं, जो एक दूसरे से भिन्न दिखाई पड़ते है। परन्तु तेरह-पन्थ सम्प्रदाय की मान्यता और सिद्धान्त निराले ही ढंग के हैं। वे किसी भी जैन अजैन के सिद्धान्त से मेल नहीं खाते हैं।

प्रत्येक सम्प्रदाय को अपने २ तत्वों का प्रचार करने की स्वतन्त्रता है किन्तु दूसरों पर आक्रमण न करते हुवे अपना प्रचार कर सकते हैं। तब

प्रश्न यह होता है कि इस समय ऐसी पुस्तिका प्रकट करने की क्या आवश्यकता है? इसके समाधान में यह कहना होगा कि तेरह-पन्थी लोगों ने जहाँ कि इनका कोई अस्तित्व ही नहीं है, उन प्रान्तों में जाकर स्थानकवासी जैन समाज के साधु श्रावकों की निन्दा करके दम्भ द्वारा अपने मन्तव्यों का प्रचार करना प्रारम्भ किया है और साधारण समझ वाली स्थानकवासी जैन जनता को चक्कर में डालने की चेष्टा कर रहे हैं।

यह देखकर राजकोट की श्री जैन ज्ञानोदय सोसायटी ने जैन समाज की रक्षा के हेतु यह निवन्ध पं० श्री शंकरप्रसादजी दीक्षित से तैयार करवाकर मण्डल को प्रकाशित करने के लिए अनुरोध किया, उनके आग्रह को मान देकर मण्डल ने यह पुस्तक प्रकाशित की है।

इस समय विश्वव्यापी महायुद्ध के कारण कागज आदि छपाई के साधनों की मँहगाई होने से लागत बहुत बैठी है। इसलिये मण्डल ऑफिस इस प्रयत्न में था कि कोई साहित्य प्रेमी सज्जन इसे अर्द्ध मूल्य में करादें। यह प्रकट करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होती है, कि श्रीमान् सेठ ताराचन्दजी भागचन्दजी साहब गेलड़ा ने इस पुस्तक को अर्द्ध मूल्य ।) चार आने में वितरण कराकर हमारा उत्साह बढ़ाया है। इस गेलड़ा परिवार ने पृथक २ नामों से व्याख्यान-सार-संग्रह के कई पुष्प अर्द्ध मूल्य में वितरण कराये हैं। अतः श्रीमान् गेलड़ाजी को धन्यवाद देते हुए, आपकी उदारता को साभार स्वीकार करते हैं।

इसी तरह श्रीमान् मिश्रीलालजी जँवरीलालजी अजमेर वालों ने भी कुछ रकम भेजी है, जिसके लिये हम उनके आभारी हैं, परन्तु रकम कम होने से उनकी तरफ से अर्द्ध मूल्य में करने से मजबूर हैं।

रतलाम, मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा सं० १९९९

—प्रकाशक

सम्पादक और प्रकाशक
का
निवेदन

तेरह-पन्थी सम्प्रदाय के सिद्धान्त, तेरह-पन्थी सम्प्रदाय की मान्यता, जैन सिद्धान्तों से और जैन मान्यता से कैसा वैपरीत्य रखती हैं, यह हमने प्रस्तुत पुस्तक में संक्षेप में बताया है। तेरह-पन्थ सम्प्रदाय की मान्यताएँ जैन मान्यताओं के ही विरुद्ध नहीं हैं, किन्तु संसार के समस्त धर्मों की मान्यताओं के भी विरुद्ध हैं और आत्मा के भी विरुद्ध हैं। लगभग सभी धर्मों का यह कथन है कि—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अर्थात्—जो अपने आत्मा के प्रतिकूल हो, जो अपने आत्मा को बुरा लगे, वैसा व्यवहार दूसरे के साथ कभी न करो।

इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि तुम दूसरे के साथ भी वैसा ही व्यवहार करो, जैसा व्यवहार तुम अपने लिए चाहते हो। इसके अनुसार यदि हम आग में जलते हों, पानी में डूबते हों,

या किसी के द्वारा मारे जाते हों, पीड़ित किये जाते हों तो उस समय हम यही चाहते हैं कि कोई हमको बचाले, हमारे प्राणों की रक्षा करे, हमको कष्ट से मुक्त करे। यदि हम भूखे हों, तो यही चाहते हैं कि कोई हमको भोजन दे। यदि हम प्यासे हों, तो यही चाहते हैं कि कोई हमें पानी पिला दे। यदि हम बीमार हों, तो यही चाहते हैं कि कोई हमें रोग से मुक्त कर दे। इसलिए हमारा भी यह कर्तव्य हो जाता है, कि हम भी उन मरते हुए, कष्ट पाते हुए, भूखे, प्यासे या बीमार लोगों के साथ वैसा ही व्यवहार करें। इस कर्तव्य का पालन करना, आत्मा के स्वाभाविक धर्म का पालन करना है, परन्तु तेरह-पन्थ सम्प्रदाय की मान्यताएँ आत्मा के इस स्वाभाविक धर्म को भी नष्ट करती हैं और इसमें भी पाप बताती हैं। प्रकारान्तर से मानव में से मानवता को ही नष्ट करती हैं।

अपनी मान्यताओं को तेरह-पन्थी लोग भी जैन शास्त्रानुसार बताते हैं, परन्तु यह हम अगले प्रकरणों में बतावेंगे कि तेरह-पन्थ की मान्यताएँ जैन शास्त्रानुसार नहीं हैं, किन्तु जैन शास्त्रों के नाम पर कलंक लगाने वाली हैं। यह बात श्रावकों को ज्ञात न हो जावे, श्रावक लोग शास्त्र की उन बातों को न जान सकें, इस उद्देश्य से तेरह-पन्थी साधुओं ने श्रावकों का सूत्र पढ़ना ही जिनाज्ञा के बाहर बताया है और जिनाज्ञा से बाहर के समस्त कार्य, वे पाप ही मानते हैं। इस प्रकार तेरह-पन्थी साधु, श्रावकों

का सूत्र पढ़ना, पाप कहते हैं। यह बताने के लिए तेरह-पन्थ के सैद्धान्तिक ग्रन्थ 'भ्रम विध्वंसन' में 'सूत्र पठनाधिकार' नाम का एक पूरा अध्याय ही दिया गया है। तेरह-पन्थियों ने केवल अपनी मान्यताओं की असत्यता से श्रावकों को अनभिज्ञ रखने के उद्देश्य से ही ऐसा किया है। श्रावकों के लिए धर्म-शास्त्र का पठन पाप है, तेरह-पन्थियों का यह सिद्धान्त भी समस्त धर्मों, सम्प्रदायों या मजहबों के विरुद्ध है। इस सम्बन्ध में तेरह-पन्थियों के द्वारा दिये गये प्रमाण, युक्ति आदि बिल्कुल व्यर्थ से हैं, इसीलिए हमने उनकी आलोचना या उनका खण्डन करना आवश्यक नहीं समझा है। तेरह-पन्थी साधुओं का श्रावकों के लिए सूत्र-पठन का निषेध, इतना तो स्पष्ट करता ही है कि तेरह-पन्थी साधु अपने सिद्धान्तों और अपनी मान्यताओं को अन्ध श्रद्धा के सहारे मनवाना चाहते हैं। खैर!

हमको तेरह-पन्थी लोगों से किसी प्रकार का द्वेष नहीं है। संसार के लाखों साधु, गृहस्थों के आश्रय में निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार तेरह-पन्थी साधु भी करें, इसमें हमारे लिए क्या आपत्ति हो सकती है? ऐसा होते हुए भी हमको उनके विरुद्ध जो कुछ लिखना पड़ा है, उनके सिद्धान्तों की जो आलोचना करनी पड़ी है, उनकी मान्यताओं का जो खण्डन करना पड़ा है, वह केवल इस कर्तव्यवश कि तेरह-पन्थी साधु अपने सिद्धान्त

को पवित्र जैन धर्म के नाम से लोगों को बताते हैं, इसलिए जैन धर्म के नाम पर लगते हुए कलंक को मिटाने का प्रयत्न करना हमारा एक साधारण कर्तव्य हो जाता है। इस पुस्तक विषयक हमारा प्रयत्न लोगों को तेरह-पन्थ के सिद्धान्तों से परिचित करने, और तेरह-पन्थी साधुओं की कुयुक्ति-चक्र से बचाने में सहायक हो, इसीलिये है; अन्यथा उनके व्यक्तित्व से तो मैत्री ही है।

॥ श्री ॥

जैन-दर्शन में

श्वेताम्बर तेरह-पन्थ

मंगलाचरण

जयइ जगजीवजोणि, वियाणओ जगगुरु जगाणंदो।
जगणाहो, जगवन्धु, जयइ जगप्पियामहो, भयवं ॥१॥

भावार्थ—पंचास्ती कायात्मक लोकवर्ती जीवों की उत्पत्ति के स्थान को जानने वाले, जगद्गुरु, जगत को आनन्द देने वाले, (त्रि) जगत के नाथ, प्राणि-मात्र के वन्धु और जगत् के पितामह अर्थात्—प्राणियों का जो रक्षण करता है, वह धर्म उन प्राणियों का पिता है और उस धर्म को भी भगवान तीर्थङ्कर प्रकट करते हैं, इसलिए प्रभु इस जगत के पितामह हैं। वे समग्र ज्ञानादि गुणों से युक्त भगवान महावीर सदा जयवन्त हों और उनका शासन भी सदा जयवन्त हो।

इस अनादि अनन्त संसार-सागर में परिभ्रमण करते हुए भव्य प्राणियों के कल्याणार्थ अनन्त भावदया से परिपूर्ण है आत्मा जिनका, ऐसे भगवान महावीर ने मोक्ष-मार्ग का विधान करते हुए सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र की आराधना करने का उपदेश किया है, परन्तु भगवान महावीर सर्वज्ञ होने से संसारी जीवों में क्षयोपशम की विचित्रता को जानकर ज्ञान-दर्शन की आराधना में, साधु और श्रावक का भेद न करते हुए तथा चारित्र आराधना में, साधु और श्रावकों का भेद बतला कर पात्रानुसार, साधु व श्रावक के आचरण का पृथक् पृथक् विधान किया है। जैसे —

"धम्मे दुविहे पनत्ते तंजहा—आगार धम्मे चेव—अणगार धम्मे चेव" (श्री स्थानांग सूत्र—द्वितीय स्थान)

अर्थ—धर्म दो प्रकार का प्ररूपा है—आगार यानि गृहस्थ के आचरण करने योग्य धर्म और अणगार यानि ग्रह-त्यागी साधु के आचरण करने योग्य धर्म। दोनों धर्मों की विशिष्ट व्याख्या करते हुए, आगार धर्म—द्वादश प्रकार का और अणगार धर्म—पांच प्रकार का बतलाया है। दोनों के कल्प, स्थिति और मर्यादा जुदी २ कायम की गई हैं, उन २ मर्यादाओं में रहकर क्रिया अनुष्ठान का आसेवन करे तो वे दोनों ही अपने २ धर्म के आराधक होते हैं; किन्तु मर्यादा का उलंघन करके आसेवना करे, क्रिया अनुष्ठान

करे तो वे अराधना के बदले विराधना कर बैठते हैं, परन्तु आश्चर्य यह है कि उन्हीं भगवान के शासन में अपने को मानने वाले जैन श्वे० तेरह-पन्थी लोग—गृहस्थ और साधु का आचरण रूप धर्म एक ही बताते हैं और कहते हैं कि—

जो काम साधु नहीं करे, वह काम श्रावक के लिए भी करने योग्य नहीं है यदि वह करता है तो पाप करता है। कहते हैं कि—

जे अनुकम्पा साधु करे, तो नवा न वांधे कर्म ।
तिण मांहिली श्रावक करे, तो तिणने पिण होसी धर्म ॥
साधु श्रावक दोनां तणी, एक अनुकम्पा जान ।
अमृत सहुने सारिखो, तिणरी मकरो ताण ॥
('अनुकम्पा' ढाल दूसरी)

साधु श्रावक नी एक रीति छे तुम जोवो सूत्र रो न्याय रे।
देखो अन्तर मांहि विचारने, कुड़ी काहे करो ताण रे ॥
('अनुकम्पा' ढाल तीसरी)

इन और ऐसे ही अन्य कथनों द्वारा तेरह-पन्थी लोग यह कायम करना चाहते हैं कि साधु और श्रावक का एक ही आचार है, एक ही रीति है, एक ही अनुकम्पा है। ऐसा ठहरा कर फिर वे साधु के बहाने से जीव रक्षा आदि में भी पाप बताते हैं, परन्तु यह सिद्धान्त उनका बिलकुल गलत है। जीव-रक्षादि कार्य शुभ परिणामों के द्वारा होते हैं। अतः शुभ परिणामों में, किसी भी

पाप प्रकृति का वन्ध हो ही नहीं सकता। भगवान महावीर ने तो साधु और श्रावक का आचरण रूप धर्म दो प्रकार का स्पष्टतया बतलाया है, दोनों के कल्प मर्यादाएँ तथा प्रवृत्तिएँ भी पृथक् २ बतलाई है।

अनेक कार्य ऐसे हैं जिन्हें; साधु तो कर सकता है, जिनका न करना साधु के लिए पाप माना जाता है, परन्तु गृहस्थ नहीं करता है और गृहस्थ का न करना, पाप नहीं माना जाता। इसी प्रकार वहुत से कार्य ऐसे हैं, जिन्हें गृहस्थ श्रावक तो करता है परन्तु साधु नहीं कर सकता और उन कामों को नहीं करने पर भी साधु को पाप नहीं लगता। उदाहरण के लिये—साधु यदि भोजन सामग्री रात-वासी रखता है तो उसको पाप लगता है, इतना ही नहीं व्रत भंग भी होता है और संयम की भी विराधना होती है, परन्तु गृहस्थ रखता है फिर भी उसे दोष नहीं लगता। इसी प्रकार यदि गृहस्थ श्रावक भोजन के समय यदि अतिथि संविभाग की भावना नहीं करता है तो उसे व्रतभंग रूप पाप लगता है, क्योंकि आतिथ्य सत्कार करना गृहस्थ जीवन का एक साधारण किन्तु मुख्य धर्म है, परन्तु साधु लोग अतिथि संविभाग नहीं कर सकते। कारण, साधु होते समय, सांसारिक भोगोपभोग की सर्व वस्तुओं का उन्होंने त्याग कर दिया है। जो अन्न वस्त्रादि गृहस्थ के यहाँ से वे लाते हैं वे अपने खुद के या अपने संभोगी

साधु के जीवन निर्वाहार्थ ही लाते हैं। इसलिये उन्हें दूसरे को देने का अधिकार नहीं है। यदि उन वस्तुओं से वे दूसरे अतिथियों का सत्कार करते हैं तो उन्हें व्रतभंग रूप पाप लगता है। इस प्रकार साधु और श्रावक का आचरण एक हो नहीं सकता।

गृहस्थ और गृहत्यागी, विरक्त और अनुरक्त दोनों का आचरण एक होना, भिन्नता का न होना कदापि सम्भव नहीं। साधु की कल्प मर्यादा जुदी है और श्रावक की जुदी। साधु में भी जिन-कल्पी और स्थविर-कल्पी का आचार-मर्यादा एक नहीं किन्तु भिन्न है। जो वैयावच्चादि कार्य स्थविर-कल्पी कर सकते हैं वे जिन-कल्पी नहीं कर सकते और जो जिन-कल्पी कर सकते हैं वे स्थविर-कल्पी नहीं करते; तब साधु और श्रावक की समानता कैसे हो सकती है? तेरह-पन्थी लोग कहते हैं कि साधु और श्रावक की अनुकम्पा एक है और रीति भी; परन्तु, यदि दोनों की रीति और कर्त्तव्य एक ही हों तो साधु सुपात्र और श्रावक कुपात्र कैसे हो सकते हैं? वे लोग श्रावक को कुपात्र क्यों कहते हैं? वे अपने दोनों ग्रन्थ—'अनुकम्पा की ढालें' तथा 'भ्रम विध्वंसन' में श्रावक को कुपात्र कहते हैं। उनसे यदि पूछा जावे कि श्रावक सुपात्र है कि कुपात्र? तो तेरह-पन्थी लोग श्रावक को सुपात्र कभी नहीं कहेंगे। ऐसी दशा में साधु और श्रावक की एक रीति, एक आचार और एक व्यवहार कैसे हो सकता है? भिन्न ही रहा

और भिन्न ही रहेगा। भिन्न रहते हुए भी यदि अपने २ कर्तव्य का पालन करें तो दोनों मोक्ष-मार्ग के पथिक हैं।

श्रावक संसार व्यवहार में रहते हुए, सावधानी-पूर्वक व्रतों की मर्यादा को कायम रख कर संसार के सभी व्यवहारों में प्रवृत्ति कर सकता है, गृह व्यवस्था संभाल सकता है और आत्म आराधना भी कर सकता है; विवेक पूर्वक कार्य करे तो आश्रव के स्थान में संवर भी निपजा लेता है परन्तु जो साधु धर्म अंगीकार करता है, वह संसार त्याग कर सम्पूर्ण निवृत्ति करता है तभी साधु धर्म की आराधना हो सकती है अन्यथा नहीं। वह संसार व्यवहार के कोई कार्य में भाग नहीं ले सकता है। इस प्रकार श्रावक धर्म और साधु धर्म की कल्प मर्यादाएँ भिन्न २ हैं अपने २ कल्प-मर्यादानुसार हर एक को अपनी प्रवृत्ति रखनी चाहिये। ऐसी प्रवृत्ति रखते हैं वे अपने २ धर्म के आराधक हैं।

अब हम तेरह-पन्थी आम्नाय के सिद्धान्तों (मान्यताओं) का संक्षेप में यहाँ दिग्दर्शन करा कर, आगे प्रकरण—बद्ध उन मान्यताओं एवं उनकी दलीलों का न्याय पूर्वक उत्तर देंगे, यहाँ तो संक्षेप में पूर्व-पक्ष का दिग्दर्शन कराया जाता है।

तेरह-पन्थी लोगों का एक सिद्धान्त यह है कि—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय यानी संक्षेप में त्रस और स्थावर सभी प्राणि समान हैं। अतः एक त्रस प्राणि की

रक्षा के लिए अनेकों स्थावर प्राणियों की हिंसा क्यों की जावे ? जैसे—किसी को भोजन दिया या पानी पिलाया, तब रक्षा तो एक आत्मा की हुई, परन्तु इस कार्य में असंख्य और अनन्त स्थावर जीवों का संहार हो जाता है, वह पाप उस जीव-रक्षा करने वाले को होगा। इतना ही नहीं किन्तु जो जीव बचा है, उसके जीवन भर खाने पीने अथवा अन्य कामों में जो हिंसा त्रस-स्थावर जीवों की होगी, वह हिंसा भी उसी को लगेगी, जिसने उसको मरने से बचाया है।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि—जो जीव मरता है अथवा कष्ट पा रहा है वह अपने पूर्व संचित कर्मों का फल भोग रहा है। उसको मरने से बचाना अथवा उसको सहायता करके कष्ट-मुक्त करना, अपने खुद पर का वह कर्म-ऋण चुकाने से उसको, वंचित रखना है, जिसे वह मरने या कष्ट सहने के रूप में भोगकर चुका रहा था।

तीसरी मान्यता यह है कि—साधु के सिवाय संसार के समस्त प्राणी कुपात्र हैं। कुपात्र को बचाना, कुपात्र को दान देना, कुपात्र की सेवा-सुश्रूषा करना, सब पाप हैं।

इन्हीं दलीलों (मान्यताओं) के आधार पर तेरह-पन्थी लोग दया और दान को पाप बताते हैं; और इन्हीं सिद्धान्तों की दृढ़ता के लिए वे कहते हैं कि—

(१) भगवान महावीर ने गोशालक को बचाया, यह उनकी भूल थी। वे छद्मस्त थे, इसलिये उनसे यह भूल हुई।

(२) भगवान पार्श्वनाथ ने आग में जलते हुए नाग नागिन को बचाये, यह कार्य उनका पाप रूप था।

(३) हरिणगमेषी देव ने, देवकी महारानी के छः पुत्रों को बचा कर पाप उपार्जन किया।

(४) धारिणी राणी ने, मेघकुमार जब गर्भ में थे, तब मेघकुमार की रक्षा के लिये खान पानादि में जो संयम किया, वह पाप था।

(५) भगवान श्री अरिष्टनेमि के दर्शन के लिए जाते समय श्रीकृष्ण वासुदेव ने एक वृद्ध पुरुष पर अनुकम्पा करके उसकी ईंट उठाई, वह पाप का कार्य था।

(६) भगवान श्री ऋषभदेव ने, जो समाज-व्यवस्था स्थापित की, वह कार्य भी पाप था।

(७) भगवान तीर्थंकरों के द्वारा दिया गया वार्षिक दान भी पाप था।

(८) महाराजा मेघरथ ने, कबूतर को बचाया, यह भी पाप का कार्य था।

(९) राजा श्रेणिक का, जीव हिंसा न करने के संबंध में 'अमारी पड्ह' की घोषणा करना भी पाप है।

(१०) राजा प्रदेशी का, दानशाला खोलने का कार्य भी पाप-रूप था।

इस प्रकार वे जैन-शास्त्र की उन समस्त बातों को पाप ठहराते हैं कि जो बातें जैन-शास्त्रों के लिए आदर्श और भूषण रूप हैं। तेरह-पन्थी साधुओं ने अपने सुख, अपनी सुविधा और अपनी रक्षा के सब मार्ग तो खुले रखे हैं। जैसे—

(क) विहार करते समय, रास्ते की सेवा के नाम से गृहस्थों को साथ रखना और उसमें महा लाभ बताना।

(ख) गृहस्थ श्रावक अपनी आवश्यकता से अधिक भोजन बना कर भावना के नाम से आमंत्रण देवे और साधु लोग उनके साथ जाकर बगैर छान-बीन किये ही ले आवें।

(ग) गृहस्थों को, सेवा में रहने के लिये, त्याग कराना और वारीसर उनको सेवा में रखना।

इन सब में धर्म एवं महा लाभ बताया है, परन्तु अपने से सम्बन्धित कार्यों के सिवाय शेष समस्त कार्यों को वे पाप ही पाप बताते हैं, किसी भी कार्य में धर्म अथवा पुण्य नहीं मानते।

जो ऊपर दस बातें बताई हैं उन कार्यों में तेरह-पन्थी लोग धर्म व पुण्य नहीं मानते, किन्तु पाप ही बताते हैं। कोई उन्हें पूछे कि ये काम पाप के क्यों हैं? तो छल-पूर्ण इधर-उधर की बातें करेंगे और प्रश्न को टालने का प्रयत्न करेंगे, जिससे इन कार्यों

में स्पष्ट पाप नहीं कहना पड़े। ये लोग अपने छल-कपट के लिए प्रसिद्ध ही हैं। उनको दिन रात ऐसी बातें करने की शिक्षा मिलती रहती है कि जिससे वे दूसरों को अपने जाल में फँसालें, परन्तु स्वयं किसी बात की पकड़ में न आवें। कदाचित् कोई उन्हें किसी बात में पकड़ लेगा, तो उस वक्त वे या तो यह बहाना लेंगे कि—

(१) इस विषय के लिये शास्त्र में बहुत देखना पड़ेगा, बिना देखे क्या कहें।

(२) आज तो अब समय हो गया है, इसलिए पूरा उत्तर नहीं दे सकते। क्योंकि इस बात का उत्तर बहुत लम्बा है।

साधारण आदमी से तो वे ऐसा कह कर पिण्ड छुड़ा लेते हैं, परन्तु वे देखते हैं कि यह आदमी हमारा पिण्ड छोड़ने वाला नहीं है तब वे उससे सदा के लिये अपना पीछा छुड़ा लेने को कह बैठते हैं कि आप तो हमारी आशातना करते हैं। इसलिये हम आपसे बात नहीं करते।

ये ही तीन मार्ग किसी जानकार से अपना पीछा छुड़ाने के हैं।

संक्षेप में इन लोगों की स्थूल स्थूल मान्यताओं का दिग्दर्शन कराया गया है। अब अगले प्रकरणों में इनकी मान्यताओं का उत्तर पक्ष करके विशद रूप से निराकरण करेंगे।

त्रस और स्थावर जीव — — समान नहीं हैं।

अब हम तेरहपन्थियों के उन सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हैं जिनके आधार पर तेरहपन्थी लोग प्राणी रक्षा तथा अनुकम्पा करके दिये गये दान में पाप बताते हैं। यह तो बताया ही जा चुका है कि साधु और श्रावक का आचार एक नहीं है। उनकी दूसरी दलील यह है, कि एकेन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तक के जीव समान हैं। इसलिए एकेन्द्रियादिक जीवों की हिंसा करके पंचेन्द्रिय की रक्षा करना धर्म या पुण्य कैसे हो सकता है? वे कहते हैं कि—

जीव मारी जीव राखणा, सूत्र में नहीं हो भगवन्त बयन।
ऊँधो पन्थ कुगुरु चलावियो, शुद्ध न सूझे हो फूटा अंतर नयन॥

('अनुकम्पा' ढाल ७ वीं)

अर्थात्—जीव मार कर जीव की रक्षा करने के लिए सूत्र में भगवान के कोई वचन नहीं हैं, किन्तु यह उल्टा मार्ग

कुगुरुओं का चलाया हुआ है, जिनको अभ्यन्तर आँखें फूटी हुई हैं और जिन्हें शुद्ध मार्ग नहीं दिखता।

रांका ने मार धींगा ने पोसे, आतो वात दीसे घणी गैरी।
इण मांही दुष्टी धर्म प्ररुपे तो, रांक जीवां रा उठिया वैरी॥

('अनुकम्पा' ढाल १२ वीं)

अर्थात्—गरीबों (स्थावरों) को मार कर सशक्त (त्रस) का पोषण करना बहुत बुरी बात है, परन्तु गरीबों (स्थावरों) के शत्रु दुष्ट लोग ऐसे खड़े हुए हैं कि इस कार्य में भी धर्म बताते हैं।

जीवां ने मार जीवां ने पोषे ते तो मार्ग संसार नो जाणोजी।
तिण मांही साधु धर्म बतावे ते पूरा मूढ़ अयाणोजी।
छः काय रा शस्त्र जीव असंयती त्यांरो जीवणों मरणो न चावेजी।
त्यांरो जीवणो मरणो साधु चावें तो राग द्वेष वेहूँ आवेजी।

('अनुकम्पा' ढाल ६ वीं)

अर्थात्—ऐसा कहते हैं कि एकेन्द्रिय जीवों को मार कर पंचेन्द्रिय जीवों का पोषण करना संसार का पाप पूर्ण कार्य है। यदि इस तरह के कार्य को कोई साधु धर्म बताता है, तो वह पूरा मूर्ख और अज्ञानी है। अव्रती जीव (साधु के सिवाय संसार के सभी जीव) छः काय के जीवों के लिए अस्त्र के समान है। इसलिए अव्रती को जीवित रखने या मारने की इच्छा तक

न करनी चाहिये। अव्रती का जीवित रहना या मरना जो साधु चाहता है, उसको राग और द्वेष दोनों ही लगते हैं।*

इन और ऐसे ही दूसरे कथनों द्वारा तेरह-पन्थी साधु एकेन्द्रिय (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव) तथा पंचेन्द्रिय (मनुष्य, गाय, हाथी, घोड़ा आदि) को समान सिद्ध करते हैं, और कहते हैं कि पंचेन्द्रिय की रक्षा करने में एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है, इसलिए रक्षा करना पाप है। जो पंचेन्द्रिय जीव बचा है, उसको बचाते समय भी एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है, और वह जीवित रहकर भी एकेन्द्रिय जीव (अन्न, जल, वनस्पति, वायु आदि) की खान-पान श्वासोच्छ्वास द्वारा हिंसा करेगा। इसलिए किसी भी जीव को बचाना पाप है।

तेरह-पन्थी लोग एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को समान बताते हैं, परन्तु वास्तव में उनका यह कथन असंगत है। स्वयं तेरह-पन्थी लोग एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को समान बताते हुए भी एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय को महत्व देते हैं तथा पंचेन्द्रिय

---

*यह न भूलना चाहिए कि तेरह-पन्थी लोग साधु और गृहस्थ का आचरण एक बताते हैं और इसीलिए जो कार्य साधु के लिए निषिद्ध है, वही गृहस्थ श्रावक के लिए भी निषिद्ध है, ऐसा सिद्धान्त कायम करते हैं।

की रक्षा और पंचेन्द्रिय के हित के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा खुद करते हैं। गृहस्थ को तो केवल त्रसकायिक हिंसा का ही त्याग होता है, परन्तु साधु को तो जीव मात्र-छहों काय के जीवों की हिंसा का त्याग है। ऐसा त्याग होने पर भी वे पंचेन्द्रिय के हित और पंचेन्द्रिय की रक्षा के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा करते हैं। जो बताया जाता है।

शास्त्रानुसार हाथ-पैर के हिलने मात्र से वायुकायिक असंख्य जीव नष्ट होते हैं। यह बात तेरह-पन्थियों को भी स्वीकार है। ऐसा होते हुए भी वे प्रतिलेखन (वस्त्र पात्रादि का) करते हैं, यह क्यों ? वस्त्र पात्रादि का प्रतिलेखन करके उसमें रहे हुए त्रसकायिक जीवों को ही बचाया जाता है या और कुछ ? प्रतिलेखन करने का उद्देश्य ही क्या है ? यदि त्रसकायिक जीवों की रक्षा करना उद्देश्य नहीं है तो फिर प्रति लेखन ही क्यों किया जाता है और वायुकायिक जीवों की व्यर्थ हिंसा क्यों की जाती है ? प्रतिलेखन करते हुए त्रस जीवों को वस्त्रादि में से अलग किया जाता है, इससे स्पष्ट है कि त्रस जीवों की रक्षा के लिए ही प्रतिलेखन किया जाता है, परन्तु प्रतिलेखन करने में कितने वायुकायिक जीवों की हिंसा हुई ? तब आपने असंख्य वायुकायिक जीवों की हिंसा द्वारा कुछ थोड़े से त्रस जीवों को ही बचाया या और कुछ किया ?

यदि तेरह-पन्थी लोग यह कहें, कि प्रतिलेखन करना हमारा धार्मिक कृत्य है, और इस कृत्य को नित्य दोनों समय करने के लिए भगवान की आज्ञा है, इसलिए हमको करना पड़ता है तथा इसमें वायुकाय के जीवों की जो हिंसा होती है, वह क्षम्य अथवा नगण्य है; तो हम उनसे पूछते हैं कि भगवान की आज्ञा होने पर भी, अथवा प्रतिलेखन के कार्य की वायुकायिक हिंसा नगण्य एवं क्षम्य होने पर भी वायुकायिक जीवों की हिंसा तो हुई या नहीं ? और यह हिंसा त्रसकायिक जीवों को बचाने के लिए ही हुई या और किसी लिए ? तथा इस प्रकार आपने अथवा भगवान ने वायुकाय के एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा त्रस काय के जीवों को बड़े माने या नहीं ?

तेरह-पन्थी साधु कहें कि प्रतिलेखन करने का उद्देश्य हमारा त्रसकायिक जीवों को बचाना नहीं है, किन्तु हमको अपने वस्त्र, पात्र या शरीर द्वारा होने वाली हिंसा से बचना है ।

बहुत ठीक, त्रस जीवों की हिंसा से बचने के लिए ही सही, वायुकायिक जीवों की हिंसा तो हुई या नहीं ? असंख्य वायुकायिक जीवों की हिंसा करने पर ही आप थोड़े से त्रस जीवों की हिंसा से अपने को बचा सके न ? फिर एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय बराबर कैसे रहे ?

यदि आपके नेश्राय में वस्त्र-पात्र हैं, इसलिए उनके द्वारा

होने वाली हिंसा का पाप आपको लग सकता है, और आप उस पाप से बचने के लिए ही असंख्य वायुकायिक जीवों की हिंसा करते हैं, और अपना पाप टालने के लिए आपने जिस जीव को बचाया है, उसके बचने का पाप आपको नहीं लगा, तो क्या आप गृहस्थ के लिए भी ऐसा मानते हैं ? मान लीजिये कि एक गृहस्थ ने एक कुआँ खुदवाया। उस कुएँ में एक गाय गिर गई। गृहस्थ ने उस गाय को कुएँ में से निकाल कर अपना पाप टाला और उसकी रक्षा की; तो आपके सिद्धान्तानुसार उस गृहस्थ को कोई पाप तो नहीं हुआ ?* यदि पाप हुआ, तो आपने प्रतिलेखन द्वारा जिन जीवों को बचाया, उन जीवों के बचने से आपको पाप क्यों नहीं हुआ ?

---

*सरदार शहर में सोहनलालजी बरड़िया नाम के एक सज्जन हैं जो कट्टर तेरह-पन्थी श्रावक थे। सन् १९२८-२९ के लगभग वे अपना एक मकान बनवा रहे थे। मकान बनाने के लिए पानी भरने के वास्ते उन्होंने मकान के सामने एक हौज़ बनवाया था। उस हौज़ में पानी भरा हुआ था। एक बछिया (गाय की बछड़ी) उस हौज़ में गिर गई और तड़फड़ाने लगी। सोहनलालजी भी वहाँ पर मौजूद थे। उन्होंने स्वयं अपने मज़दूरों की सहायता से उस बछिया को निकाल दिया। कुछ दूसरे लोग जो तेरह-पन्थी नहीं थे, वहाँ पर मौजूद थे। उन्होंने सोहनलालजी से कहा कि आपके धर्मानुसार तो आपका बछिया को निकाल देने का कार्य पाप हुआ। सोहनलालजी ने कहा कि पाप क्यों हुआ ? मैंने बछिया को कष्ट तो दिया ही नहीं है, बल्कि कष्ट से बचाया

और सुनिये! आप रजो-हरण क्यों रखते हैं? पैर के नीचे कोई त्रस जीव आकर दब न जावे, इसीलिए या और किसी कार्य के लिए? परन्तु रजोहरण हिलाने में वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है या नहीं? असंख्य वायुकायिक जीवों की हिंसा करके तब कहीं आप थोड़े से त्रस जीवों को बचा पाते हैं। ऐसी दशा में एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा त्रस जीवों का महत्व अधिक रहा या नहीं? त्रस जीवों की रक्षा के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा की गई या नहीं?

ही है। सोहनलालजी के बाप दादा तेरह-पन्थी श्रावक थे, इसी से सोहनलालजी भी तेरह-पन्थी श्रावक कहलाते थे, परन्तु वास्तव में तेरह पन्थ के सिद्धान्त क्या और कैसे हैं? यह उनको पता न था। लोगों ने सोहनलालजी से कहा कि आप हम पर नाराज़ मत होइए; किन्तु तेरह-पन्थ सम्प्रदाय के आचार्य, पूज्य श्री कालूरामजी महाराज यहीं विराजते हैं, उन्हीं से जाकर पूछ लीजिये। सोहनलालजी बरड़िया उसी समय श्री कालूरामजी महाराज के पास गये। उन्होंने श्री कालूरामजी महाराज को समस्त घटना कह सुनाई और प्रश्न किया कि केरड़ी के बचा देने से मुझे धर्म हुआ या पुण्य अथवा पाप हुआ? श्री कालूरामजी महाराज ने कहा कि न धर्म हुआ, न पुण्य हुआ, किन्तु पाप हुआ। सोहनलालजी ने कहा कि ऐसा क्यों? मैंने उस केरड़ी को कोई दुःख तो दिया ही नहीं है, फिर मुझे पाप क्यों हुआ? श्री कालूरामजी ने कहा कि वह केरड़ी जिसे तुमने बचाई है, खायेगी, पीयेगी, जिसमें असंख्य जीवों की हिंसा होगी, फिर वह मैथुन का पाप करेगी, उसकी सन्तान होगी, वह भी खायेगी, पियेगी और मैथुनादि पाप

तीसरी दलील सुनिये ! तेरह-पन्थी साधु से यदि यह प्रश्न किया जावे कि आप विहार करके यहाँ क्यों आये हैं ? तो वे यही कहेंगे कि धर्म प्रचार के लिए, अथवा लोगों को शुद्ध धर्म बताने के लिए, या अपने गुरु की आज्ञा पालन करने के लिए।

करेगी। इस प्रकार उस केरड़ी के कारण पाप की जो परम्परा चली, वह तुम्हें भी लगेगी।

उस दिन सोहनलालजी को अपने धर्म का असली स्वरूप ज्ञात हुआ। उन्होंने श्री कालुरामजी महाराज से कहा कि आप अपने धर्म को अपने पास ही रखिये, मुझे आपका यह धर्म नहीं चाहिए। मैं तो धर्म का सार यह समझता था कि—

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।" अर्थात्—

जो अपने आत्मा को बुरा लगता है, वह व्यवहार दूसरों के साथ न करो, किन्तु दूसरे के साथ भी वह व्यवहार करो जो अपने आत्मा को अच्छा लगता है।

इसके अनुसार यदि मैं पानी में डूबने लगता तो यही चाहता कि कोई मुझे बचाले। यही बात वह केरड़ी भी चाह रही थी। फिर मैंने बचा दिया तो मुझे पाप कैसे हो गया? कदाचित् किसी दिन मैं भी पानी में डूबने लगूँ और कोई आपके सिद्धान्त का अनुसरण करके मुझे न निकाले, तो मुझे कितना दुःख होगा। इसलिए आज से मैं तेरह-पन्थ सम्प्रदाय को त्यागता हूँ। मैं किसी धर्म का अनुयायी न रहना तो अच्छा मानूँगा, परन्तु तेरह-पन्थ का अनुयायी कदापि न रहूँगा।

उस दिन से सोहनलालजी ने तेरह-पन्थ सम्प्रदाय को सदा के लिए त्याग दिया।

—लेखक

परन्तु आप यहाँ इतनी दूर चल कर आये, इसमें कितने वायु-कायिक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा हुई? साथ ही थोड़ी बहुत अन्य स्थावर तथा त्रस जीवों की भी हिंसा हुई होगी। यह हिंसा आपने किसके हित के लिए की? आपका धर्म कौन सुनेगा? आपके धर्म से किसको लाभ होगा? मनुष्य ही सुनेंगे या एकेन्द्रियादि जीव भी? आपके धर्म से यदि कुछ लाभ होगा तो मनुष्य को ही होगा या एकेन्द्रियादि जीवों को? उनके लाभ के विषय में तो आप स्पष्ट कहते हैं—

केइक अज्ञानी इम कहे, छः काया का जे हो देवाँ धर्म उपदेश। एकण जीव ने समझावियाँ, मिट जावे हो घणा जीवां रा क्लेश। छः काय घरे शान्ति हुवे, एहवा भाषे हो अन्य तीर्थी धर्म। त्याँ भेद न पायो जिन धर्म रो ते तो भूल्या हो उदय आया अशुभ कर्म॥

('अनुकम्पा' ढाल पाँचवीं)

इस कथनानुसार आपका उपदेश और किसी के कल्याण के लिए तो है ही नहीं। केवल उन्हीं के कल्याण के लिए हो सकता है, जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप स्वीकार कर सकते हैं और ऐसा मनुष्य ही कर सकते हैं। इस प्रकार आपका आगमन केवल मनुष्यों के हित के लिए ही रहा न? परन्तु मनुष्यों के

हित के लिए आपने कितने एकेन्द्रिय और त्रस जीवों की हिंसा की ? चाहे आपको विहार, धर्म-प्रचार आदि के लिए गुरु या भगवान की आज्ञा भी हो, परन्तु आज्ञा होने के कारण वायुकायिक आदि जीवों की हिंसा को अहिंसा तो नहीं कही जा सकती। यदि ऐसी हिंसा अहिंसा हो, तो फिर इरियावही क्रिया ही क्यों लगे ? है तो वह हिंसा ही, जो मनुष्यों के हित के लिए चाहे की गई हो। इस प्रकार आपने या भगवान ने एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों में भिन्नता मानी या नहीं ? एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय अथवा स्थावर और त्रस समान तो नहीं रहे न ? यदि समान ही हों तो थोड़े से मनुष्यों के हित के लिए वायुकायादि के असंख्य जीवों की हिंसा क्यों की जावे ?

चौथी दलील देखिये ! तेरह-पन्थी साधु आहार पानी के लिए इधर उधर घूमते हैं, तथा आहार पानी करते हैं। इस कारण दिशा जंगल भी जाना पड़ता है। इस आवागमन में तथा श्वासोच्छ्वास लेने में असंख्य वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है, या नहीं ? यह हिंसा वे क्यों करते हैं ? यदि साधु होते ही वे संथारा कर लेते तो यह हिंसा तो वच जाती या नहीं ? इतने जीवों की हिंसा करके वे अपने एक मानव शरीर की रक्षा करते हैं या और कुछ करते हैं ? यदि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव समान हैं, तो फिर तो एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से बचने के लिए संयम

लेते ही संथारा कर लेना चाहिये था। भगवान ने भी जीवों की दया के लिए संथारा करने—आहार पानी त्याग कर एक स्थान पर पड़े रहने की आज्ञा दी है। संथारे को आप भी पाप तो नहीं मानते, किन्तु धर्म ही मानते हैं। और आप कहते हैं—

जो अनुकम्पा साधु करे तो, उपदेश दे वैराग्य चढ़ावे। चोखे चित पेलो हाथ जोड़े तो चारों ही आहार रो त्याग करावें॥

('अनुकम्पा' ढाल पहली)

अर्थात्—साधु यह अनुकम्पा करते हैं, कि उपदेश देकर वैराग्य चढ़ाते हैं और यदि वह व्यक्ति प्रसन्नता से हाथ जोड़ता है, तो उसको चारों ही आहार का त्याग कराते हैं।

इस प्रकार अनुकम्पा करके साधु दूसरे को चारों आहार का त्याग कराते हैं, तो स्वयं ही अनुकम्पा के लिए साधु होते ही संथारा क्यों नहीं कर लिया करते? यदि कहा जावे कि समय से पहले संथारा करने की भगवान की आज्ञा नहीं है, तो क्यों नहीं है? जीवित रहने से वायुकायिकादि जीवों की हिंसा होती है, यह जानते हुए भी भगवान ने समय से पहिले संथारा करने की आज्ञा नहीं दी, तो उन्होंने क्यों आज्ञा नहीं दी? क्या वे चाहते थे, कि वायुकायिकादि जीवों की हिंसा की जावे? जब उन्होंने वायुकायिकादि जीवों की हिंसा को जानते हुए भी समय

के पहले संथारा करने की आज्ञा नहीं दी, तो इससे स्पष्ट है, कि उन्होंने असंख्य एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा 'मनुष्य-जीवन को अधिक माना है और तेरह-पन्थी साधु भी ऐसा ही मानते हैं, तभी तो इतनी हिंसा करके भी जीवित रहते हैं।

अब पाँचवाँ दृष्टान्त सुनिये! साधु जब एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं, तब यदि मार्ग में नदी आती हो, तो उस नदी को पार करते हैं। यदि नदी में नाव लगती हो, तब तो नाव के द्वारा नदी पार करते हैं और यदि नाव नहीं लगती है, तथा पानी घुटने से नीचे है, तो पानी में उतर कर पार जाते हैं। चाहे नाव में बैठकर जावें या पानी में उतर कर जावें, अपकायिक जीवों की हिंसा तो होती ही है। भगवान ने जल के एक एक बिन्दु में पानी के असंख्य २ जीव कहे हैं। जल के आश्रित निगोद है, और निगोद में अनन्त जीव भी हैं। उन जीवों की हिंसा करके साधु, पार जाते हैं, परन्तु जाते हैं किस लिए? लोगों को धर्मोपदेश सुनाने के लिए ही न? और उनके द्वारा सुनाये जाने वाले धर्मोपदेश से यदि किसी को फायदा होता है, तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप स्वीकार करने वाले थोड़े से मनुष्यों को ही। यदि एकेन्द्रिय जीव और पंचेन्द्रिय जीव समान हैं, तो फिर असंख्य बल्कि अनन्त जीवों की हिंसा थोड़े से मनुष्यों के हित के लिए क्यों की जाती है? यह एक बार दो बार नहीं, किन्तु

आचारंग सूत्र के अनुसार साधु एक मास में दो बार नदी उतर सकते हैं। ऐसी दशा में एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव समान कैसे रहे ? यदि समान होते तो क्या भगवान शास्त्र में इस तरह का विधान कर सकते थे ?

छठी दलील भी देखिये ! साधु जब चलते फिरते हैं, तब वायुकायिक जीवों की भी हिंसा होती है और समय पर जलकाय तथा वनस्पति काय के जीवों की भी। इस तरह से दिन भर प्रत्येक साधु द्वारा असंख्य असंख्य जीवों की हिंसा हो जाती है। दूसरी ओर मान लीजिये कि एक साधु के पैर के नीचे आकर एक पंचेन्द्रिय त्रस जीव मर गया। क्या पंचेन्द्रिय के मरने का प्रायश्चित भी उतना ही होगा, कि जितना प्रायश्चित चलने फिरने से मरने वाले वायु, जल और वनस्पतिकायिक जीवों के लिए होता है ? यदि उतना ही प्रायश्चित होता है, तो क्यों ? पंचेन्द्रिय त्रस जीव तो एक ही मरा है और वायु, जल, वनस्पति के असंख्य तथा अनन्त जीव मरे हैं। फिर एक तरफ असंख्य जीव का प्रायश्चित समान क्यों है ? और यदि उस त्रस जीव के लिए अधिक प्रायश्चित लेना पड़ा, तो अधिक क्यों लेना पड़ा ? जब कि आपकी मान्यतानुसार जीव जीव सब समान हैं, चाहे एकेन्द्रियं हो, द्वीन्द्रिय हो या पंचेन्द्रिय हो। इन दोनों ही बातों से स्पष्ट है कि स्थावर जीवों की अपेक्षा त्रस जीव का महत्व

अधिक है और एक त्रस जीव की समानता में असंख्य ही नहीं, बल्कि अनन्त स्थावर जीव भी नहीं हो सकते।

सातवीं दलील देखिये ! तेरह-पन्थी लोग एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को समान तो बताते हैं, लेकिन वे अपने इस सिद्धान्त पर टिक नहीं सकते। मनुष्य जीवन-निर्वाह के लिए नित्य असंख्य और अनन्त एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा करते हैं। अन्न में भी जीव हैं, पानी में भी जीव हैं, वनस्पति में भी जीव हैं और अग्नि आदि में भी। मनुष्य के जीवन-निर्वाह के लिए इस प्रकार की हिंसा अनिवार्य मानी जाती है। कदाचित् कोई व्यक्ति तेरह-पन्थियों के सिद्धान्त पर विचार करे और सोचे कि बाजरे, गेहूँ या मोठ के एक एक दाने में भी एक एक जीव है और साग तरकारी में तो असंख्य या अनन्त जीव हैं, लेकिन एक बकरे में एक ही जीव है, फिर जब एक ही जीव की हिंसा से मेरा काम चल सकता हो, तो गेहूँ, बाजरे, मोठ या साग के असंख्य जीवों की हिंसा क्यों की जावे ? इस तरह इनके सिद्धान्त को कोई इस रूप व्यवहार में लाने लगे और गेहूँ, बाजरा, मोठ और साग के अनन्त जीवों की हिंसा से बचकर एक ही बकरे की हिंसा से अपना काम चलाने लगे, तो क्या यह ठीक होगा ? कदाचित तेरह-पन्थी कहें कि माँस-भक्षण निषिद्ध है, तो हम उनसे कहेंगे, कि माँस भी जीव का कलेवर है और गेहूँ का आटा भी जीवों

का कलेवर ही है। आपकी दृष्टि में जीव जीव में तो अन्तर है ही नहीं। फिर गेहूँ, बाजरे का कलेवर न खाकर बकरे का कलेवर खाने वाले ने तो आपके सिद्धान्तानुसार बहुत जीवों की हिंसा ही टाली है। एक जीव की हिंसा करके असंख्य जीवों की हिंसा से बचा है, फिर आपके सिद्धान्तानुसार उसने क्या बुरा किया?

इस युक्ति पर से तेरह-पन्थी साधु यह हल्ला मचावेंगे कि जैन होकर इस तरह का उदाहरण देते हैं। शर्म भी नहीं आती। परन्तु तेरह-पन्थियों को भी शर्म नहीं आती, जो कहते हैं कि—

(१) कबूतर को दाना डालना पाप है, क्योंकि प्रत्येक दाने में जीव है।

(२) किसी को पानी पिलाना पाप है, क्योंकि पानी की एक एक बूंद में असंख्य असंख्य जीव हैं।

(३) गायों को घास डालना, लंगड़े अन्धे को रोटी देना और माँ बाप की सेवा करना पाप है।

(४) कसाई से गाय को छुड़ा देना पाप है।

तेरह-पन्थी लोग अपने आपको जैन और भगवान महावीर के अनुयायी बताकर जब इस तरह के और ऐसे ही दूसरे कामों को पाप बताने में नहीं शर्माते, तब उन्हीं के सिद्धान्त पर दी गई दलील के विषय में वे क्यों चिढ़ते हैं?

आठवीं दलील सुनिये ! मान लीजिये कि तेरह-पन्थी साधु के पास तीन आदमी आये और कहने लगे कि हम आपके श्रावक होना चाहते हैं। उन तीनों में से एक आदमी ने कहा कि महाराज ! आप इन दो आदमियों को अपना श्रावक मत बनाइये। ये लोग महान हिंसक हैं। ये लोग जब महान् हिंसा त्याग कर मेरी तरह अल्प हिंसा से आजीविका करें, तब इनको श्रावक बनाइयेगा। देखिये, इनमें से यह एक आदमी तो गेहूँ और बाजरा पीस कर आटा वेचता है। गेहूँ और बाजरे के प्रत्येक दाने में एक एक जीव है, इसलिए यह नित्य प्रति असंख्य जीवों का संहार करता है। यह दूसरा आदमी दिन भर तरबूज काट काट कर वेंचता रहता है। वनस्पति में असंख्य २ जीव हैं, इसलिए यह नित्य प्रति असंख्य जीवों की हिंसा करता है। लेकिन मैं दिन भर में केवल एक बकरा, पैसे देकर दूसरों से कटवाता हूँ और उसका गोश्त वेंच लेता हूँ। इस प्रकार मैं, एक ही जीव की हिंसा से अपनी आजीविका करता हूँ और वह हिंसा भी स्वयं नहीं करता, किन्तु दूसरे से करवाता हूँ, तथा मैं गोश्त भी नहीं खाता हूँ। इसलिए आप मुझे ही श्रावक बना लीजिये।

तेरह-पन्थी साधु किसे अपना श्रावक बनावेंगे और किसे न बनावेंगे ? बकरे की हिंसा त्याग देने पर श्रावक बनाना दूसरी

बात है, लेकिन तीनों आदमी अपना अपना व्यवसाय त्यागे बिना ही यदि श्रावक होना चाहें, तो तेरह-पन्थी किसको तो श्रावक बनावेंगे और किसको न बनावेंगे ? क्योंकि उनकी दृष्टि में तो सब जीव समान हैं। इसलिए बकरे द्वारा आजीविका करने वाले को ही अपना श्रावक बनाना चाहिये, दूसरों को नहीं। ऐसा होते हुए भी यदि वे बकरे द्वारा आजीविका करने वाले को अपना श्रावक नहीं बनाते हैं, तो फिर यह किस बिना पर कहते हैं, कि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा समान है ? अथवा एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा समान है, अथवा एकेन्द्रिय को मारकर पंचेन्द्रिय का पोषण करना पाप है।

नवमीं दलील सुनिये। जैन शास्त्रों में त्रस-पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने वाले को नरक जाना कहा है, परन्तु क्या कहीं यह भी कहा है कि स्थावर जीव की हिंसा के पाप से कोई नरक में गया ? तेरह-पन्थियों से ही प्रश्न किया जावे कि एक आदमी नित्य सवा सेर आलू खाता है और प्रत्येक आलू में अनन्त २ जीव हैं। इसके सिवाय वह और कोई पाप नहीं करता। लेकिन दूसरा आदमी जमीकन्द या लीलोत्री को छूता भी नहीं है, परन्तु उसने जीवन भर में केवल एक मनुष्य, गाय, बकरे या साँप को मार डाला है। तो आपके सिद्धान्तानुसार नरक में कौन जावेगा? और यदि दोनों ही नरक जावेंगे तो अधिक स्थिति किसकी होगी?

तथा आप जो कुछ उत्तर दे रहे हैं, उसको किस शास्त्र के किस पाठ का समर्थन प्राप्त है ?

अन्तिम दसवीं दलील देकर हम इस विषय को समाप्त कर देंगे। भगवान अरिष्टनेमि को संयम लेने से पूर्व तेरह-पन्थी श्रावक जितना ज्ञान तो रहा ही होगा। यानी इतना तो वे जानते ही होंगे कि जल की एक एक बूंद में असंख्य २ जीव हैं। ऐसा होते हुए भी उन्होंने राजमति के यहाँ जाने से पूर्व मिट्टी, ताँबा, पीतल, सोने और चाँदी इनमें से प्रत्येक के बने हुए एक सौ आठ घड़ों के जल से स्नान किया। यह कितने जीवों की हिंसा हुई ? फिर बरात सजाकर राजमती के यहाँ गये। उसमें भी कितने त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा हुई होगी ? इतनी बड़ी-बड़ी हिंसा के समय तो वे कुछ भी न बोले और राजमति के वहाँ बाड़े में बन्द पशुओं को देखकर कहा—

जइमज्झ कारणा ए ए, हम्मंति सु बहुजिया।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई ॥

('उत्तराध्ययन सूत्र' २२ वाँ अध्याय)

अर्थात्—मेरे कारण होने वाली यह बहुत जीवों की हिंसा, मेरे लिए परलोक में श्रेयकारी नहीं हो सकती।

भगवान् अरिष्टनेमि के लिए पूर्व के इक्कीस तीर्थङ्कर स्पष्ट कह गये थे, कि अरिष्टनेमिजी बाल ब्रह्मचारी रहेंगे और भगवान

अरिष्टनेमि स्वयं भी जानते थे कि मुझको विवाह नहीं करना है। ऐसा होते हुए भी उन्होंने अपने विवाह की तैयारी का ही विरोध क्यों नहीं किया; किन्तु स्नान द्वारा असंख्य एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा की और बारात द्वारा होने वाली त्रस तथा स्थावर जीवों की हिंसा भी देखते रहे। इन दोनों हिंसाओं का उन्होंने कोई विरोध नहीं किया, न उनके विषय में यही कहा, कि यह हिंसा परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकती। बल्कि स्नान द्वारा जलकाय आश्रित अनन्त जीवों की हिंसा तो उन्होंने अपने हाथ से ही की थी।

बाड़े में बन्द पशु-पक्षियों की जो हिंसा होती, वह उनके स्वयं के हाथ से न होती। इसके सिवाय बाड़े में बन्द पशु-पक्षियों की संख्या भी सीमित ही हो सकती है। सौ-दो सौ, हजार-दो हजार या अधिक से अधिक दस हजार मान लीजिये। लेकिन जल के जो स्थावर जीव मरे, उनका तो अन्त ही नहीं है, न उन जीवों की ही संख्या हो सकती है, जो बारात के सजने और जाने में त्रस तथा स्थावर जीव मारे गये। फिर बाड़े में बन्द थोड़े से जीवों की हिंसा के लिए तो कहा कि मेरे लिए परलोक में यह हिंसा श्रेयस्कर नहीं हो सकती और जलादि के अनन्त जीवों के लिए ऐसा कुछ भी नहीं कहा, न उनकी हिंसा के लिए खेद या पश्चाताप ही किया।

ऐसी दशा में एकेन्द्रिय जीव से पंचेन्द्रिय जीव प्रधान रहे या नहीं ? और एकेन्द्रिय जीवों की उपेक्षा करके भी पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा करना सिद्ध हुआ या नहीं ? फिर जब सारथी ने उन बाड़े और पींजरे में बन्द पशु-पक्षियों को खोल दिया, तब भगवान अरिष्टनेमि ने सारथी को अपने आभूषण इनाम में दिये। जो पशु-पक्षी जीवित रहे, वे कितनी हिंसा करेंगे। उस हिंसा को जानते हुए भी भगवान ने सारथी को पुरस्कार क्यों दिया ?

तेरह-पन्थी लोगों के सिद्धान्तानुसार तो किसी जीव को कुछ देना पाप है, किसी जीव के प्रति करुणा करना राग है, जो अनेक भव तक जन्म-मरण कराने वाली है। फिर भगवान अरिष्टनेमि ने दोनों ही काम क्यों किये ? जीवों पर करुणा भी की, तथा उनको बचाया भी। फिर भी उन्हें भव-भ्रमण करना न पड़ा, वे तद्भव ही सिद्ध हुए। यदि भगवान अरिष्टनेमि की इच्छा जीवों को बचाने की न होती, तो बेचारे सारथी की क्या ताकत थी, जो वह उग्रसेन के बाड़े पींजरे में बन्द पशु-पक्षियों को खोल देता। और कदाचित सारथी ने उनकी इच्छा न होने पर भी पशु-पक्षियों को छोड़ दिया था, तो भगवान अरिष्टनेमि ने अपने आभूषण पारितोषिक रूप में उसको क्यों दिये ? यदि वैराग्य आजाने से दिये तो मुकुट क्यों न दे दिया ?

तेरह-पन्थी तो कहते हैं कि—

धन धान्यादिक लोकां ने दिया यह तो निश्चय ही सावद्य दानजो। तिण में धर्म नहीं जिण राज रो तें भाष्यो छे श्री भगवानजी ॥

('अनुकम्पा' ढाल १२ वीं)

अर्थात्—लोगों को धन धान्य देना निश्चय ही सावद्य (पाप) दान है। उसमें जिनराज का धर्म नहीं है, ऐसा श्री भगवान ने कहा है।

इसके अनुसार भगवान अरिष्टनेमि ने सारथी को आभूषण देकर क्यों पाप किया? जिसमें धर्म नहीं हैं, और जो सावद्य (पाप) है, वह दान भगवान अरिष्टनेमि ने क्यों दिया?* क्या उनको तेरह-पन्थ के एक साधारण साधु एवं श्रावक जितना ज्ञान भी

---

* तेरह-पन्थी लोग दान में पुण्य नहीं मानते। यदि वे दानादि से पुण्य का बन्ध होना मानते हों, तब तो फिर चाहिए ही क्या। लेकिन वे तो स्पष्ट कहते हैं कि—

"पुण्य तो धर्म लारे बंधे छे, ते शुभ योग छे। ते निर्जरा विना पुण्य निपजे नहीं। ते माटे असंयति ने दियां धर्म पुण्य नहीं।"

('भ्रम-विध्वंसन' दानाधिकार बोल २०)

अर्थात् पुण्य तो निर्जरा के साथ उत्पन्न होता है, इसलिए असंयति को देने से न धर्म है न पुण्य।

न था ? तेरह-पन्थ के सिद्धान्तानुसार, असंयति होने के कारण वह सारथी कुपात्र था,* इसलिए उन्होंने कुपात्र को आभूषण तथा वर्षी दान देकर मॉस-भक्षण व्यसन कुशीलादिक के समान पाप क्यों किया ?† तेरह-पन्थी लोग चाहे भगवान अरिष्टनेमि के इन कार्यों को भी पाप कहने का साहस कर डालें, परन्तु वास्तव में भगवान अरिष्टनेमि के चरित्र से यह स्पष्ट है कि—

(१) एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा प्रधान है, एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा गौण है ।

(२) पंचेन्द्रिय जीवों की रत्ता के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा महत्त्व सूचक नहीं है ।

(३) साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना पाप नहीं है ।

इन समस्त दलीलों द्वारा यह बताना इष्ट है कि एकेन्द्रिय

---

* "साधु थी अनेरा कुपात्र छे। तेहने दीधां अनेरी प्रकृति नो बंध ते अनेरी प्रकृति पाप नी छे।"

('भ्रम-विध्वंसन' दानाधिकार बोल १८)

अर्थात्—साधु के सिवा सब लोग कुपात्र हैं और कुपात्र को देने से दूसरी प्रकृति पाप की है, उसका बंध होता है ।

† "कुपात्र दान, मॉंसादि सेवन, व्यसन कुशीलादिक ये तीनों ही एक मार्ग के ही पथिक हैं।"

('भ्रम-विध्वंसन' दानाधिकार बोल २१ का फुटनोट)

और पंचेन्द्रिय जीव समान नहीं हैं, किन्तु एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीवों का महत्व बहुत अधिक है। पंचेन्द्रिय जीव की रक्षा के लिए एवं पंचेन्द्रिय जीव के कल्याण के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा नगण्य है। एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होते हुए भी पंचेन्द्रिय जीव (मनुष्य) का हित साधु को करना, जैन शास्त्र सम्मत है। तेरह-पन्थी लोग दया दान के विरोधी होने से ही एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव को समान बताकर एकेन्द्रिय की हिंसा के नाम पर पंचेन्द्रिय की रक्षा को पाप बताते हैं। वे लोगों को धोखे में डालते हैं, लोगों में भ्रम फैलाते हैं और जैन धर्म के नाम पर लोगों को उल्टे मार्ग पर ले जाते हैं। यदि ऐसा नहीं है, तो फिर तेरह-पन्थी साधु स्थावर जीवों की रक्षा के लिए—

(१) प्रतिलेखन करना क्यों नहीं त्यागते ?

(२) रजोहरण का उपयोग करना क्यों नहीं छोड़ते ?

(३) ग्रामानुग्राम विहार करना क्यों नहीं त्यागते ?

(४) आहार-पानी त्याग कर संथारा क्यों नहीं कर लेते ?

(५) नदी के पार जाना क्यों नहीं छोड़ते ?

(६) पंचेन्द्रिय जीव के मर जाने पर ज्यादा प्रायश्चित क्यों लेते हैं ?

(७) माँस-भक्षी की अपेक्षा अन्न वा वनस्पति-भोजी को बड़ा पापी क्यों नहीं मानते ?

(८) बकरे के वध और व्यवसाय द्वारा आजीविका करने वाले को श्रावक क्यों नहीं बनाते ?

(९) पंचेन्द्रिय जीव की अपेक्षा एकेन्द्रिय जीव के हिंसक को अधिकाधिक नरक होना क्यों नहीं मानते ?

मतलब यह है कि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव समान नहीं हैं। पंचेन्द्रिय जीव की रक्षा के सामने एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा महत्व-पूर्ण नहीं है। क्योंकि धर्म का विधान करते हुए भगवान तीर्थङ्करों ने गृहस्थ के लिए स्थावर जीवों की पूर्ण दया अशक्य जानी, तब श्रावक व्रतों में त्रस जीव की हिंसा त्यागना आवश्यक बताकर उसे त्यागने का विधान किया है। इसलिए महा ज्ञानियों की दृष्टि में भी एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय की रक्षा विशेष महत्वपूर्ण है, और यह बात तेरह-पन्थियों के व्यवहार से भी सिद्ध है, जो ऊपर बताया गया है। इस सम्बन्ध में और भी बहुत-सी दलीलें देकर यह सिद्ध किया जा सकता है कि पंचेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा एकेन्द्रिय जीव की हिंसा को तेरह-पन्थी लोग भी उपेक्षणीय मानते हैं, परन्तु पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जावेगा, इसलिए हम इतनी ही दलीलें देकर सन्तोष करते हैं। और इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

मारा जाता हुआ जीव, कर्म की निर्जरा नहीं करता, किन्तु अधिक कर्म बाँधता है।

तेरह-पन्थी लोग कहते हैं कि जो जीव मर रहा है या कष्ट पा रहा है, वह अपने पूर्व संचित कर्म का भुगतान कर रहा है। ऐसे जीव को मरने से बचाना या उसकी सहायता करके उसको कष्ट-मुक्त करना, उस जीव को अपने ऊपर चढ़ा हुआ कर्म-ऋण चुकाने से वंचित रखना है। वे कहते हैं—

"साधु तो जीवाँ ने क्याँ ने बचावे ते तो पच रह्या निज कर्मों जी। कोई साधु री संगत आय करे तो सिखाय देवे जिन धर्मोजी ॥"

('अनुकम्पा' ढाल ९ वीं गाथा ३६)

"जो बकरा रो जीवणो वांछे नहीं लिगार।
तिण ऊपर दृष्टान्त ते सांभलजो सुखकार ॥
साहुकार रे दोय सुत एक कपूत अवधार।
ऋण करडी जागाँ तणू माथे करे अपार ॥

दूजो सुत जग दीपतो यश संसार मझार।
करडी जागाँ रो करज उतारे तिण वार ॥
कहो केहने वरजे पिता दोय पुत्र में देख।
वर्जे कर्ज करे तसु के ऋण मेटते पेख ॥

समझ नर विरला।

कर्ज माथे सुत अधिक करंतो वार वार पिता वरंजतो रे।
करडी जागाँ रा माथे काँय कीजे प्रत्यक्ष दुख पामीजे रे ॥
अधिक माथा रो कर्ज उतारे जनक तास नहीं वारे रे।
पिता समान साधु पिछाणो रजपूत वकरो वे सुत मानो रे ॥
कर्मरूप ऋण माथे कुण करतो आगला कर्म कुण अपहरतो रे।
कर्मऋण रजपूत माथे करे थे वकरा संचित कर्म भोगवे छे रे ॥
साधु रजपूत ने वर्जे सुहाय कर्म करज करे काँय रे।
कर्म वंध्यां घणा गोता खासी परभव में दुःख पासी रे ॥
सरवर पणे तिण ने समझायो
तिण रो तिरणो वंछ्यो मुनिरायो रे।
वकरा जिवावण नहीं दे उपदेश
रूडी ओलख बुद्धिवन्त रेसरे ॥"

('भिक्षुयश रसायन')

अर्थात्—साधु जीवों को क्यों बचावें ? जो जीव दुःख पा रहे हैं, वे अपने कर्म से दुःख पा रहे हैं, इसलिए साधु उन्हें क्यों बचावें ? हाँ, यदि कोई आकर साधु की संगति करे, तो उसको जैन-धर्म अवश्य सिखा देवेंगे।

मारे जाते हुए बकरे का जीवित रहना क्यों नहीं इच्छा जाता (यानी मरते हुए जीव को क्यों नहीं बचाया जाता)। इस पर एक दृष्टान्त सुनिये! साहूकार के दो लड़के हैं; जिनमें से एक कपूत है, जो अपने सिर पर बहुत कठिन और अपार ऋण कर रहा है। लेकिन दूसरा लड़का संसार में सुप्रसिद्ध एवं यशस्वी है, जो कठिन ऋण चुका रहा है। अब बाप दोनों पुत्रों को देखकर किसको बर्जेगा, किसे हटकेगा और रोकेगा ? जो कर्ज कर रहा है उसको हटकेगा या जो कर्ज चुका रहा है उसको ? जो लड़का अपने सिर पर अधिक ऋण कर रहा है, बाप उसको बार बार बर्जेगा और कहेगा कि इतना कठिन ऋण क्यों कर रहा है ? इस कर्ज करने का दुष्परिणाम प्रत्यक्ष ही भोगना होगा। जो लड़का अपने सिर पर का कर्ज उतार रहा है, बाप उसको नहीं बर्जेगा, उसको तो प्रशंसा ही करेगा।

इस दृष्टान्त के अनुसार साधु, बाप के समान है और बकरा (मारा जाने वाला) तथा राजपूत (बकरे को मारने वाला) दोनों साधु-रूपी पिता के दो पुत्र हैं। इन दोनों

पुत्र में से कौन तो अपने सिर पर कर्म-रूपी ऋण चढ़ा रहा है, और कौन अपने पूर्व संचित कर्म-रूपी ऋण को चुका रहा है। यह देखो! राजपूत (बकरे को मारने वाला) बकरे को मारकर अपने सिर पर कर्म ऋण और चढ़ा रहा है, लेकिन बकरा, राजपूत के हाथ से मर कर अपने पूर्व संचित कर्म भोगने रूप अपने सिर पर का ऋण चुका रहा है। इसलिए साधु रूपी पिता, राजपूत (बकरा मारने वाले) रूप पुत्र को ही वर्जेंगे कि अपने सिर पर कर्म-रूपी कर्ज क्यों करता है? कर्म-रूपी कर्ज करने से तुझे बहुत चक्कर खाने पड़ेंगे और परभव में दुःख पाना होगा। इस तरह राजपूत-रूपी पुत्र को मुनिराज ने भली प्रकार समझाया और उसका तिरना चाहा, परन्तु बकरे को जीवित रखने के लिए मुनिराज उपदेश नहीं देते। क्योंकि वह तो मरकर अपने पर का कर्म-ऋण चुका रहा है। उसको कर्म-रूपी ऋण चुकाने से मुनिराज-रूपी पिता क्यों रोके? हे बुद्धिमानों! इस रहस्य को अच्छी तरह समझो।

यह है तेरह-पन्थियों का सिद्धान्त। थोड़ी समझ वाले लोगों में यह सिद्धान्त भरने और उनसे अपना यह सिद्धान्त स्वीकार कराने के लिए तेरह-पन्थी लोग उन लोगों के सामने चित्र रखते हैं, अथवा कंकर रखकर समझाते हैं, कि देखो, यह बाप है और ये दो पुत्र हैं। एक पुत्र अपने सिर पर कर्ज कर रहा है और

दूसरा पुत्र अपने सिर पर का कर्ज उतार रहा है। बाप किसको रोकेगा? कर्ज करने वाले को रोकेगा, या कर्ज उतारने वाले को रोकेगा? बेचारे भोले लोग कह देते हैं कि कर्ज करने वाले को ही बाप रोकेगा, लेकिन जो कर्ज उतार रहा है, उसके काम में बाप हस्तक्षेप क्यों करेगा? तब तेरह-पन्थी कहते हैं कि इसी तरह इस चित्र में साधु है, जो सब जीवों के बाप की तरह है। छः काय के जीवों के प्रति-पालक हैं और उनके सामने यह कसाई और यह बैल है। ये दोनों ही साधु मुनिराज के पुत्र हैं। कसाई रूपी पुत्र बैल रूपी पुत्र को मारकर अपने पर कर्म-रूप ऋण चढ़ा रहा है, लेकिन बैल रूपी पुत्र मरकर अपने पर का कर्म-ऋण उतार रहा है। ऐसी दशा में साधु बैल-रूपी पुत्र को कर्म रूपी ऋण चुकाने से कैसे रोक सकते हैं? यानी मरने से कैसे बचा सकते हैं? यदि कर्म-ऋण चुकाते हुए पुत्र को भी साधु-रूपी पिता रोकते हैं, तो पिता होकर भी उसका अहित करते हैं। इसी से हम कहते हैं, कि किसी मरते हुए जीव को बचाना, या दुःख पाते हुए जीव को दुःख मुक्त करना पाप है। क्योंकि ऐसा करने से वह अपने सिर पर का कर्म-ऋण चुकाने से वंचित रह जाता है।

साधारण बुद्धिवाला आदमी तेरह-पन्थी साधुओं की इस कुयुक्ति को पहले तो ठीक मान बैठता है। वह क्या जाने कि ये

लोग हमको उलटा समझा रहे हैं। उसको मालूम नहीं है कि जो जीव कसाई द्वारा मारा जा रहा है, वह जीव भी महा कठिन कर्म बाँध रहा है किन्तु "पूर्व संचित कर्म चुका नहीं रहा है"। इस अजानकारी के कारण वे लोग तेरह-पन्थियों की बात को ठीक मानकर, मरते हुए जीव को बचाने, दीन-दुःखी की सहायता करने आदि समस्त परोपकार के कार्यों को पाप मानने लगते हैं और सोचते हैं कि जो मर रहा है या दुःख पा रहा है, वह अपने कर्म भोग रहा है। हम उसको कर्म भोगने से क्यों रोकें?

तेरह-पन्थियों की इस कुयुक्ति पर हम सत्य का प्रकाश डालकर बताते हैं, कि तेरह-पन्थी साधुओं का यह कथन कितना झूठ, कितना धोखे में डालने वाला और कितना शास्त्र-विरुद्ध है। तथा, यदि इसी सिद्धान्त का व्यवहार उन्हीं के साथ किया जावे, तो उनको बुरा तो न मालूम होगा? वे काठियावाड़ या पंजाब आदि से जल्दी ही तो न लौट जावेंगे?

सब से पहले यह देखना है कि क्या अज्ञान-पूर्वक कष्ट सहने या मरने से भी कर्म की सकाम निर्जरा होती है? क्या चिल्लाते, रुदन करते तथा हाय वाँय करते और दुःख करते हुए मरने अथवा कष्ट सहने से कर्म ऋण चुकता है? इन प्रश्नों पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर मालूम होगा कि ऐसा कदापि नहीं हो सकता। यदि इस प्रकार के मरण या कष्ट सहने से कर्म

का ऋण चुकता हो, तो फिर संयम का पालन और पण्डित-मरण व्यर्थ हो जावेंगे। फिर संयम लेने या पण्डित मरण से मरने की कोई आवश्यकता ही न रहेगी और धर्म ध्यान तथा शुक्लध्यान भी निरर्थक सिद्ध होंगे।

श्रावक धर्म को जानने वाला है जिसके लिए सूत्र में बहुत ही विशेषण आये हैं। वह जानता है कि आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान करने से कर्म का बन्ध होता है। इसलिए किसी भी समय आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान न आने देना चाहिए, चाहे कितने भी कष्ट क्यों न हों, अथवा कोई मार ही क्यों न डाले? इस बात को जानते हुए भी ऐसे कितने श्रावक निकलेंगे, जो जान से मारे जाने या बहुत दिनों तक भूखे प्यासे रहने, अथवा चिरकालीन रोग प्रस्त रहने की बात तो दूर रही, किसी के द्वारा एक थप्पड़ मार दिये जाने पर अथवा गाली दी जाने पर, अथवा समय पर भोजन-पानी न मिलने से या थोड़ा सिर या पेट दुखने से आर्त्त, रौद्र ध्यान या क्रोधादि न करते हों। जब सम्यक्त्व धारी देश-विरती श्रावकों को भी थोड़े ही से कष्ट में आर्त्त रौद्र ध्यान व क्रोधादि कषाय हो सकते हैं, तो जो लोग धर्म को बिल्कुल ही नहीं जानते, उन्हें उस समय कैसा भीषण आर्त रौद्र ध्यान होता होगा, जब कि वे किसी के द्वारा जान से मारे जाने लगते होंगे अथवा अन्न पानी न मिलने क्षुधा तृषा का कष्ट पाते होंगे

और किसी रोग द्वारा पीड़ित होते होंगे। किसी हिंसक या कसाई द्वारा किसी मारे जाते हुए जीव को देखो, कि वह कैसा दुःख पाता है, और किस प्रकार तड़फड़ाता एवं चिल्लाता हुआ मरता है।

जैन शास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि जो आर्त्त रौद्र ध्यान करता हुआ मरता है, वह हल्के कर्म को भारी करता है, मन्द रस वाले कर्म को तीव्र रस वाले करता है और अल्प स्थिति के कर्मों को महास्थिति के बनाता है। यथा श्री ज्ञाता सूत्र तथा उपासक दशांग सूत्र में श्रावक का वर्णन है। वहाँ बताया है कि देवता जिन श्रावकों को डिगाने आया, वहाँ ऐसा बोला है कि जो तू धर्म नहीं छोड़ेगा तो मैं तुझे अमुक २ कष्ट दूँगा। उस कष्ट और पीड़ा के कारण आर्त्त रौद्र ध्यान ध्याता हुआ अकाल में जीवित रहित हो जावेगा, तब तेरा धर्म कहाँ रहेगा। इस प्रकार परवश मरने वाला आर्त रौद्र ध्यानवश बहुत कर्म बाँध लेता है।

कर्जा तो श्री गजसुकुमालजी सरीखे महापुरुष जिन्होंने सम्यक् प्रकार कष्ट को सहन किया वही चुकाते हैं, सब जीव नहीं चुकाते। वे तो अधिक कर्जा कर लेते हैं, शास्त्र ने तो ऐसा कहा है। और तेरह-पन्थी कहते हैं कि राजपूत द्वारा मारा जाता हुआ बकरा अपने सिर पर का कर्म रूपी ऋण चुकाता है। हम

तेरह-पन्थी साधुओं से ही पूछते हैं कि जो जीव धर्म को नहीं जानते, वे जब किसी के द्वारा मारे जाने लगेंगे, तब उनमें आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान होगा, या धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान होगा? यदि धर्म न जानने पर भी बकरे को धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान हो सकता है, तब तो धर्म की जरूरत ही क्या रही? क्योंकि धर्म का उद्देश्य आत्मा में धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान लाना है। ये दोनों ध्यान यदि धर्म न जानने वाले पशु को भी हो सकते हैं। तो फिर धर्म की जरूरत ही क्या रही? और यदि धर्म न जानने वाले बकरे को राजपूत द्वारा मारे जाने के समय धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान नहीं हुआ, किन्तु आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान हुआ, तो आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान से महान् कर्म का बंध होता है या नहीं? और यदि महान् कर्म का बन्ध होता है, तो आपका यह कथन कि "बकरा अपने सिर पर का कर्म ऋण चुकाता है" झूठ और शास्त्र-विरुद्ध रहा या नहीं।

अब हम दूसरी दलील देते हैं। जैसा कि बताया जा चुका है, तेरह-पन्थ का सिद्धान्त है कि "मारने वाला अपने सिर पर कर्म ऋण करता है, इसलिए साधु लोग उसको उपदेश देकर कर्म ऋण करने से रोकते हैं, परन्तु जो मारा जा रहा है, वह अपने सिर पर का कर्म ऋण चुकाता है। इसलिए साधुरूपी पिता उस कर्म ऋण चुकाने वाले को कर्म ऋण चुकाने से नहीं रोकते, यानी

मरने से नहीं बचाते।" इस पर से प्रश्न किया जाता है कि साधु ने मारने वाले को कर्म ऋण न करने के लिए जो उपदेश दिया, वह उपदेश सफल होने पर मारने वाला, जिसको मार रहा था, उसका कर्म ऋण चुकाना रुक गया या नहीं? उसके कर्म ऋण चुकाने में अन्तराय पड़ गई और वह अन्तराय साधु ने डाली, इसलिए साधु को अन्तराय डालने का पाप हुआ या नहीं? भविष्य में जो अन्तराय पड़ती है, उसका पाप उपदेश देने वाले को न लगना तो आप कहते हैं, लेकिन बकरे के लिए तो आपने वर्तमान में ही अन्तराय डाली है और वर्तमान में अन्तराय डालना आप भी पाप मानते हैं। देखिये, भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ५० दानाधिकार में उपदेश के कारण दूसरे को होने वाली अन्तराय के भविष्य में यह बताते हुए कि भूतकालीन और भविष्यकालीन अन्तराय से साधु को दोष नहीं आता है, आपके आचार्य कहते हैं कि—

"अन्तराय तो वर्तमान-काल में इज कही छे, पिण और वेलां कही नहीं"।

इसके अनुसार आपके सिद्धान्तानुसार मारने वाले को भी उपदेश देना पाप हुआ या नहीं? एवं मरने वाले को आपने अन्तराय दी या नहीं? यह पाप क्यों करते हैं?

कदाचित् यह कहो कि यह बात तो दान में अन्तराय डालने विषयक है। तो हम पूछते हैं कि दान लेने वाला तो अपने पर ऋण कर रहा था और बकरा ऋण चुका रहा था। जब ऋण करने वाले को अन्तराय देना भी पाप है, तब क्या ऋण चुकाने वाले को अन्तराय देना धर्म कैसे होगा? अगर पाप नहीं मानते तो धर्म तो कहिये।

कदाचित यह कहो कि हमारा भाव कर्म ऋण चुकाते हुए को अन्तराय देने का नहीं था, इसलिए हमको अन्तराय का पाप नहीं लग सकता, तो आपका यह उत्तर सुनकर तो हमको बहुत प्रसन्नता होगी। क्योंकि जब भाव न होने से आपको अन्तराय का पाप नहीं लग सकता, तब भाव न होने के कारण किसी मरते हुए प्राणी की रक्षा करने में वह पाप भी नहीं लग सकता, जो बचाये गए प्राणी द्वारा भविष्य में होंगे, बचाने वाले को जिनका लगना बताकर, जीव बचाने को आप पाप कहते हैं।

तीसरी दलील सुनिये! मान लीजिये कि एक साधु को एक मास की तपस्या है। साधु को धर्म का ज्ञान है और वे सम भाव पूर्वक कष्ट सहन करके कर्म की निर्जरा करने के लिए ही साधु हुए हैं। उनको जब तक आहार नहीं मिलता है, तब तक उनके कर्म की महा निर्जरा होती है। क्योंकि आहार न मिलने पर भी साधु लोग आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान तो करेंगे ही नहीं।

वे तो क्षुधा के कष्ट को समता पूर्वक ही सहेंगे और समता पूर्वक कष्ट सहने से कर्म की महा निर्जरा होती है, यह बात जैन शास्त्र भी कहते हैं और आप भी मानते हैं। साथ ही आप यह भी कहते हैं कि कर्म ऋण चुकाते हुए को अन्तराय देना पाप है। जैसा क़ि आपने बकरे और राजपूत का उदाहरण दिया है।

आपके सिद्धान्त को मानने वाला यदि कोई आदमी सोचे कि आहार मिलने से मुनि के कर्म की निर्जरा होती हुई रुक जावेगी। ऐसा सोचकर वह स्वयं भी मुनि को पारणे के लिए आहार न दे, तथा औरों से भी कहे कि मुनि के कर्म की होती हुई निर्जरा मत रोको, तो उसका यह कार्य अनुचित तो न होगा? इसके सिवा जो लोग मुनि को आहार देकर उनको कर्म ऋण चुकाने से रोक देते हैं, उनको पाप तो न होगा? जिस तरह आपके उदाहरण में साधु, बकरे और राजपूत दोनों का बाप है, उसी तरह शास्त्रानुसार श्रावक भी साधु के बाप हैं। जिस तरह साधु, बकरे को कर्म ऋण चुकाने से नहीं रोकते, उसी प्रकार श्रावक को भी यही उचित है कि कर्म ऋण चुकाते हुए कर्म की निर्जरा करते हुए—साधु को वह न रोके। ऐसा होते हुए भी यदि कोई श्रावक साधु को आहार देकर उन्हें कर्म ऋण चुकाने से रोकते हैं, तो उनको भी वैसा ही पाप हुआ या नहीं, जैसा पाप कर्म ऋण चुकाते हुए बकरे को बचाने से हो सकता है? बल्कि आपके दृष्टान्त

में साधु, अपने मन से ही बकरे का बाप बना है, और अपने मन से ही यह भी कहता है कि बकरा मरकर कर्म ऋण चुका रहा है।

इन दोनों बातों को शास्त्रीय समर्थन भी प्राप्त नहीं है, तथा ऊपर यह भी सिद्ध किया जा चुका है कि मरता हुआ बकरा, कर्म बाँधता है, किन्तु चुकाता नहीं है। लेकिन श्रावक, साधु के बाप तुल्य है और आहार न मिलने पर साधु के कर्म की महा निर्जरा होती है, इन दोनों ही बातों को शास्त्रीय समर्थन भी प्राप्त है।

आप ही से पूछते हैं, कि शास्त्र में श्रावक को साधु का माता-पिता कहा है या नहीं? और आहार न मिलने पर साधु को समाधि पूर्वक कर्म की निर्जरा करना कहा है या नहीं? इसलिए जो श्रावक, साधु को आहार-पानी देता है और कर्म ऋण चुकाते हुए साधु को कर्म ऋण चुकाने से रोकता है वह तेरह-पन्थ के सिद्धान्तानुसार पापी हुआ या नहीं? और तेरह-पन्थी लोग जिसकी महान् महिमा गाते हैं, वह सुपात्र दान उन्हीं के सिद्धान्त से पाप ठहरता है या नहीं? यदि साधु को आहार-पानी देना धर्म है, तो मरते हुए जीव को बचाना अथवा कष्ट पाते हुए जीव की सहायता करना पाप क्यों होगा?

इस सम्बन्ध में और भी बहुतसी युक्तियाँ दी जा सकती हैं, लेकिन इतनी ही युक्तियों से तेरह-पन्थ का यह सिद्धान्त गलत और असंगत ठहरता है, कि 'मरते हुए की रक्षा करने या दीन

दुखी की सहायता करने से उनका चुकता हुआ कर्म ऋण चुकना रुक जाता है, इसलिए मारे जाते हुए जीव को बचाना अथवा दुखी की सहायता करना पाप है'। यदि सचमुच ही वे अपने इस सिद्धान्त को ठीक मानते हैं, तो—

(१) आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान से कर्म की निर्जरा होना मानना चाहिये।

(२) जो किसी जीव को मार रहा है, उसको भी हिंसा न करने का उपदेश न देना चाहिये।

(३) जिसको वे सुपात्र दान कहते हैं, वह सुपात्र दान भी पाप मानना चाहिये।

यदि तेरह-पन्थी लोग ऐसा नहीं करते हैं, तो उनका सिद्धान्त केवल लोगों को धोखे में डालने के लिए है, और झूठा है। जिस सिद्धान्त को वे स्वयं भी व्यवहार में नहीं ला सकते, उस सिद्धान्त का प्रचार केवल दया और दान को उठाने, एवं दान दया को पाप बताने के लिए लोगों में करना, यह तो दया दान से द्वेष रखना ही है।

श्रावक कुपात्र नहीं है

तेरह-पन्थी लोग कहते हैं, कि साधु के सिवा संसार के सभी प्राणी कुपात्र हैं और मरते हुए कुपात्र को बचाना, कुपात्र को दान देकर उसे कष्ट मुक्त करना तथा कुपात्र की सेवा-सुश्रुषा करना, पाप है। जैसा कि वे कहते हैं—

छः कायरा शस्त्र जीव अव्रती त्यांरो जीवणो मरणो न चावेजी। त्यांरो जीवणो मरणो साधु चावे तो रागद्वेष वेहूँ आवेजी॥ छः कायरा शस्त्र जीव अव्रती त्याँरो असंयम जीवितव्य जाणोजी। सर्व सावद्य रा त्याग किया त्याँरो संयम जीवितव्य एह पिछाणोजी।

('अनुकम्पा' ढाल ६ वीं)

अर्थात्—अव्रती जीव छः काय के जीवों के शस्त्र (घातक) हैं, इसलिए उनका जीना या मरना, न इच्छना चाहिये। यदि

कोई साधु* उनका जीना मरना इच्छता है, तो उसको राग और द्वेष दोनों ही लगते हैं। अव्रती जीव छःकायिक जीवों के शस्त्र हैं, इसलिए उनका जीवन असंयम पूर्ण है। सर्व सावद्य का त्याग जिन्होंने किया है, उन्हीं का जीवन संयम पूर्ण है।

और भी कहते हैं कि—

असंयम जीवितव्य ने वाल मरण याँ री आशा वांछा नहीं करणी जी। पंडित मरण ने संयम जीवितव्य नी आशा वांछा मन धरणी जी।

('अनुकम्पा' ढाल ६ वीं)

कर्मा करने जीवड़ा, उपजे ने मरजाय।
असंयम जीतव तेहनो, साधु न करे उपाय।

('अनुकम्पा' ढाल २ री)

असंयति जीवाँ रो जीवणो ते सावद्य जीतव साक्षात् जी। तिण ने देवे तो सावद्य दान छे तिण मे धर्म नहीं अंश मात जी॥

('अनुकम्पा' ढाल १२ वीं)

---

*साधु और गृहस्थ का आचरण, दोनों की रीति और दोनों की अनुकम्पा एक ही है, ऐसा तेरह-पन्थी मानते हैं जो पहले बताया जा चुका है।

छः काय रो शस्त्र जीव अव्रती, साता पूछे ने साता उपजावे। त्याँरी करे वियावच्च विविध प्रकारे तिण ने तीर्थंकर देव तो नहीं सरावे ॥

('अनुकम्पा' ढाल ११ वीं)

अर्थात्—असंयम जीवन और बाल मरण की आशा कामना न करनी चाहिये, किन्तु पण्डित मरण और संयम जीवन की ही आशा (इच्छा) मन में रखनी चाहिये। जीव कर्म के कारण मरते जीते हैं। उनका जीवन असंयम पूर्ण है, इसलिए साधु उनकी रक्षा का उपाय नहीं करते। असंयति जीवों का जीवित रहना साक्षात् पाप पूर्ण जीवन है। इसलिए उनको दिया गया दान सावद्य (पाप) दान है, उसमें अंश-मात्र भी धर्म नहीं है। अव्रती जीव छः काय का शस्त्र है। उनको शान्ति पूछना, अथवा उनको शान्ति देना अथवा अनेक प्रकार से उनकी सेवा करना आदि कामों की (पाप है इसलिए) तीर्थंकर देव सराहना नहीं करते हैं।

इन सब सिद्धान्त वाक्यों का स्पष्टीकरण करते हुए तेरह-पन्थी लोग 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ८२ में कहते हैं—

छव काय रा शस्त्र ते कुपात्र छे। तेहने पोष्याँ धर्म पुण्य किम निपजे। डाह्या हुए तो विचारि जोइ जो ॥

इस बात को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ७९ में कहा गया है—

ते साधु थी अनेरा तो कुपात्र छे।

अर्थात्—साधु के सिवाय सब लोग कुपात्र हैं।

इस प्रकार असंयमी अव्रती को तेरह-पन्थी लोग कुपात्र कहते हैं। व्रतधारी श्रावक का समावेश भी कुपात्र में ही करते हैं। जैसा कि वे कहते हैं—

वेषधारी श्रावक ने सुपात्र थापे तिण ने नित्य जिमाँ या कहे मोक्ष रो धर्मो। उण ने सूत्र शस्त्र ज्यूँ परणमिया हिंसा हढाय बांधे मूढ कर्मो॥

('अनुकम्पा' ढाल १२ वीं)

अर्थात्—वेषधारी, (तेरह-पन्थी साधु के सिवाय दूसरे सभी साधु) श्रावक को सुपात्र बताकर कहते हैं कि श्रावक को नित्य भोजन कराना, मोक्ष का धर्म है। ऐसा कहने वालों के लिए सूत्र भी शस्त्र की भाँति परगमे हैं, और वे मूढ हिंसा की स्थापना करके कर्म बाँधते हैं।

संक्षेप में वे लोग अपने सिवाय और सभी लोगों को छः काय के शस्त्र, असंयमी, अव्रती और कुपात्र कहते हैं। यह बात उनसे प्रश्न करके भी जानी जा सकती है। यदि वे कहें कि, और लोग अथवा श्रावक कुपात्र छः काय के शस्त्र असंयमी अव्रती

नहीं हैं, तो हमको उनका यह उत्तर सुनकर प्रसन्नता ही होगी। परन्तु वे स्पष्टतया ऐसा कदापि नहीं कह सकते, किसी को भुलावे में चाहे भले ही डालें।

इस प्रकार साधु के सिवाय शेष सभी जीवों को, तेरह-पन्थी साधु छः काय के शस्त्र, असंयमी अव्रती और कुपात्र बताकर अपना सिद्धान्त वाक्य सुनाते हैं—

छः काय रो शस्त्र वचावियाँ, छः काया नो वैरी होय जी। त्याँ रो जीवितव्य पिण सावद्य कह्यो, त्याँ ने वचाया धर्म न होय जो। असंयती रा जीवणा मध्ये धर्म नहीं अंश मातजी। वले दान देवे छे तेहने ते पण सावद्य साक्षात् जी॥

('अनुकम्पा' ढाल १२ वीं)

अर्थात्—जो छः काय के शस्त्र को बचाता है, वह छः काय का वैरी होता है। जिन छः काय के शस्त्र का जीवन पाप पूर्ण कहा गया है, उन छः काय के शस्त्र को बचाने से धर्म नहीं होता। असंयति के जीवन में अंश-मात्र भी धर्म नहीं है और उनको जो दान दिया जाता है, वह भी पाप पूर्ण है।

इसी बात को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ १२१ में कहा गया है—

जिम कोई कसाई पाँच सौ पाँच सौ पंचेन्द्रिय जीव नित्य हणे छे, ते कसाई ने कोई मारतो हुवे तो तिण ने उपदेश देवे। ते तिण ने तारवाने अर्थे पिण कसाई ने जीवतो राखण ने उपदेश न देवे। यो कसाई जीवतो रहे तो आछो, इम कसाई नो जीवणो वांछणो नहीं। केई पंचेन्द्रिय हणे केई एकेन्द्रिय हणे छे। ते माटे असंयति जीव ते हिंसक छे। हिंसक नो जीवणों वांछियाँ धर्म किम हुवे ?

इस प्रकार तेरह-पन्थी अपने सिवाय सब को वैसा ही हिंसक कहते हैं, जैसा हिंसक नित्य पाँच सौ-पाँच सौ गाय या बकरे आदि पंचेन्द्रिय जीव मारने वाला कसाई होता है। तथा सब जीवों को, चाहे वह श्रावक हो या तेरह-पन्थ सम्प्रदाय के सिवाय अन्य किसी सम्प्रदाय का साधु भी हो, नित्य पाँच सौ गाय मारने वाले कसाई की तरह हिंसक ठहरा कर कहते हैं कि ऐसे हिंसक को बचाने, अथवा दान देने या उनकी सेवा सहायता करने से धर्म कैसे हो सकता है ? यह सब तो पाप ही है।

तेरह-पन्थी साधु एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों को समान तथा एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा को समान कहते हैं तथा एकेन्द्रिय जीव की हिंसा करने वाले को भी उस कसाई

की तरह हिंसक कहते हैं, जो पाँच सौ गाय बैल नित्य मारता है। इस विषय में पूर्व के एक प्रकरण में यह बताया जा चुका है, कि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव समान नहीं हैं, दोनों की हिंसा भी समान नहीं है और दोनों की हिंसा का परिणाम भी समान नहीं है। हमने गत प्रकरण में जो कुछ कहा है, उसमें से इस एक बात को हम फिर दोहराते हैं, कि यदि दोनों की हिंसा समान है, तो तेरह-पन्थी साधु पंचेन्द्रिय जीव हनने वाले को श्रावक क्यों नहीं बनाते, जब कि असंख्य और अनन्त एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने वाले व्यक्ति को वे अपना श्रावक बना लेते हैं? इसके सिवा शास्त्र में यह तो कहा है कि पंचेन्द्रिय बध नरक का कारण है, परन्तु क्या कहीं ऐसा भी कहा है कि एकेन्द्रिय का बध करने वाला श्रावक भी नरक में जाता है? शास्त्र का वह पाठ यहाँ लिखते हैं।

एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा नेरइताए कम्मं प्पकरंति—णेरइत्ताए कम्मं प्पकरेत्ता णेरइएसु उववज्जंति—तंजहा महारंभाए महा परिग्गहिया ए, पंचिंदिय वहेणं कुणिमा हारेणं।

('उववाई सूत्र' तथा 'श्री भगवती सूत्र')

भावार्थ—इस प्रकार चार स्थानक से जीव नरक-गति में जाने का कर्म करता है और वह नरक में उपजने के कर्म उपार्जन

करके नर्क में उत्पन्न होता है यथा महारम्भ करके महा परिग्रह करके पंचेन्द्रिय का बध करके और माँस-भक्षण करके।

शास्त्र का यह पाठ होने पर भी यानी पंचेन्द्रिय का बध नरक का कारण होने पर भी कारण सहित पंचेन्द्रिय-बध करने वाला भी नरक नहीं जाता है। जैसे वर्णनागनतुया और राजा चेटक ने अनेकों मनुष्य मार डाले, फिर भी नरक नहीं गये। इस प्रकार सकारण की हुई पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा भी कारणवश क्षम्य मानी जाती है, तब एकेन्द्रिय जीव की हिंसा करने वाला उस कसाई की तरह का हिंसक कैसे हो सकता है, जो पाँच पाँच सौ पंचेन्द्रिय जीव नित्य मारता है? क्या दोनों की हिंसा समान है, और दोनों की हिंसा का फल भी समान होगा? यदि नहीं तो पाँच सौ पंचेन्द्रिय जीव हनने वाले कसाई की तुलना में सब जीवों को ठहरा कर उनको बचाना या उनकी सहायता करने के कार्य्य को पाप बताना कैसे उचित है? इसके सिवाय करुणा करके कसाई को बचाना भी पाप नहीं कहा जा सकता, यह बात हम अगले किसी प्रकरण में बतावेंगे। यहाँ तो केवल इस बात पर थोड़ासा प्रकाश डालते हैं कि तेरह-पन्थियों का यह कथन कहाँ तक उचित है, कि संयति (साधु) के सिवाय सब लोग कुपात्र हैं।

पहिला प्रश्न तो यह है कि कुपात्र शब्द तेरह-पन्थी लोग कहाँ से ढूँढ लाये। शास्त्र में तो 'कुपात्र' शब्द पाया ही नहीं

जाता। व्यवहार और कोष आदि में भी 'पात्र' और 'अपात्र' ये दो ही शब्द पाये जाते हैं। यानी पात्र है और पात्र नहीं है। कदाचित् किसी में दोनों ही बातें रही हुई हों तो विशेष परिस्थिति के लिए एक तीसरा शब्द 'पात्रापात्र' और भी बन सकता है; परन्तु यह शब्द पात्र और अपात्र इन दोनों शब्द के मिश्रण से ही बना है, इनसे भिन्न नहीं है। हाँ, आचार्यों ने कहीं सुपात्र के तीन भेद किये हैं। यथा—जघन्य सुपात्र सम्यक् दृष्टि; मध्यम सुपात्र श्रावक, उत्कृष्ट सुपात्र साधु और अपात्र रोगी, दुखी, मंगत, भिखारी तथा कुपात्र-हिंसक, चोर, जार, वेश्या ऐसी कहीं कहीं व्याख्या है। साधु-श्रावक को तो गुण-रत्नों का पात्र ही कहा है।

ऐसी दशा में अपने लिए सुपात्र और दूसरे के लिए कुपात्र शब्द लाये कहाँ से ? केवल अपनी बड़ाई और दूसरों की तुच्छता बताने के लिए ही कुपात्र और सुपात्र शब्द की सृष्टि की है, या अपना स्वार्थ साधने के लिए तथा इन नामों से लोगों को धोखे में डालने के लिए ही इन शब्दों की कल्पना की गई है, या और किसी उद्देश्य से ? साधु कहलाकर भी इस तरह के कल्पित शब्दों द्वारा लोगों को धोखे में डालना क्या उचित है ? परन्तु तेरह-पन्थी साधुओं ने यदि औचित्य को अपने में रहने दिया होता, तो जैन शास्त्र और भगवान महावीर के नाम से वे दया तथा दान को पाप ही क्यों कहते ?

'सु' और 'कु' (पात्रों के) विशेषण हैं। विशेषणों का उपयोग विशेष समय पर ही किया जा सकता है, सदा के लिए नहीं, लेकिन तेरह-पन्थियों ने मूल शब्द 'पात्र' और 'अपात्र' का तो कहीं उपयोग ही नहीं किया है।

पात्र का अर्थ है बर्तन—भाजन। वस्तु रखने के लिए जो उपयुक्त होता है, वह उस वस्तु के लिए पात्र है, और जो उपयुक्त नहीं है, वह अपात्र है। परन्तु जो एक कार्य के लिए पात्र है, वही दूसरे कार्य के लिए अपात्र भी हो जाता है, और जो एक कार्य के लिए अपात्र है, वह दूसरे कार्य के लिए पात्र भी हो जाता है। उदाहरण के लिए कोई लड़का उद्दण्ड, अविनीत चोर और विद्याध्ययन में चित्त न लगाने वाला है, तो वह लड़का विद्या पढ़ाने के लिए तो अपात्र है, परन्तु लड़ाई-झगड़े और बदमाशी आदि के लिए पात्र हो जाता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति पढ़ा-लिखा तो है, साहसी भी है, परन्तु कद में ५ फीट ६ इञ्च से कम है और छाती ३० इञ्च है, तो वह व्यक्ति फौज में भर्ती होने के लिए तो अपात्र है, लेकिन क्लर्की के लिए अपात्र नहीं है, किन्तु पात्र है। इन उदाहरणों को और आगे बढ़ा लीजिये।

'सु' और 'कु' विशेषण पात्र के लिए ही लग सकते हैं। जो जिस कार्य का पात्र ही नहीं है, उसके लिए 'कु' और 'सु' विशेषण भी नहीं लगते। जो जिस वस्तु का पात्र है, उसमें रखी गई वस्तु

यदि आशा से अधिक समय तक सुरक्षित रहती है, यदि आशा से अधिक गुण देने वाली हो जाती है, तब उस पात्र की प्रशंसा में 'सु' विशेषण लगाकर उसे सुपात्र कहा जाता है। इसी प्रकार जिसमें रखी हुई वस्तु आशा से बहुत कम समय में ही खराब हो जाती है, अथवा आशा तो यह थी कि इस पात्र में वस्तु के गुणों में वृद्धि होगी लेकिन इस आशा के विरुद्ध वस्तु विपरीत गुणकारी अथवा गुणहीन बन जाती है, तब उस पात्र की निन्दा करने के लिए 'कु' विशेषण लगाकर उसे कुपात्र कहा जाता है।

इस प्रकार 'सु' और 'कु' विशेषण पात्र के लिए ही लगते हैं। जो अपात्र है, उसमें रखी हुई वस्तु यदि खराब भी हो जावे, तो उसको कुपात्र न कहा जावेगा, किन्तु अपात्र ही कहा जावेगा। उदाहरण के लिए खटाई के बर्तन में रखा गया दूध यदि खराब हो जावे, तो क्या उस बर्तन को कुपात्र कहा जावेगा? यही कहा जावेगा कि यह बर्तन ही दूध रखने के योग्य न था, दूध के लिए अपात्र था। किसी हींजड़े को फौज में भर्ती करके युद्ध में भेजा जावे, और वहाँ से वह ताली बजाकर भागे, तो उसको कुपात्र न कहा जावेगा, किन्तु यही कहा जावेगा कि यह फौज के लिए अपात्र ही था। परन्तु जो बर्तन दूध के लिए अपात्र रहा है, वह खटाई के लिए पात्र है। जो हींजड़ा फौज के लिए अपात्र रहा है, वह ताली बजाकर, नाचने गाने के लिए पात्र है। इस प्रकार

पात्र या अपात्र अपेक्षाकृत है, और 'सु' तथा 'कु' विशेषण-पात्र के लिए ही लगते हैं। सभी बातों के लिए न तो कोई पात्र है, न अपात्र है।

मतलब यह है कि जिसके लिए जो मर्यादा है, वह उसका पात्र है, और जिसके लिए जो मर्यादा नहीं है, वह उसका पात्र नहीं है, किन्तु उसके लिए अपात्र है। जो पात्र है, उसके द्वारा जब तक मर्यादा की सीमा का अनुकूल या प्रतिकूल उल्लंघन नहीं होता है, वह मर्यादा भीतर ही है, तब तक तो वह पात्र ही है। उसको न सुपात्र कहा जावेगा, न कुपात्र ही कहा जावेगा। लेकिन जब वह अनुकूल दिशा में मर्यादा का उल्लंघन करता है, यानी आगे बढ़ता है, तब उसे सुपात्र कहा जाता है और प्रतिकूल दिशा में मर्यादा का उल्लंघन करके आगे बढ़ता है, तो कुपात्र कहा जावेगा। जैसे पुत्र और अपुत्र, पुत्र तो आपका लड़का है, लेकिन अपुत्र आपका लड़का नहीं है। जो आपका लड़का ही नहीं है, वह यदि आपको खाने को नहीं देता है, तो आप उसको सुपुत्र न कहेंगे। इसके विरुद्ध जो आपका लड़का है, वह जब तक अपने कर्त्तव्य का साधारण रीति से पालन करता रहेगा, आप उसको पुत्र कहेंगे। जब वह अपने कर्त्तव्य का विशेषरूप से पालन करेगा, तब आप उसको सुपुत्र कहेंगे और जब वह अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा करेगा, अपने कर्त्तव्य का

पालन न करेगा, विपरीत व्यवहार करेगा, तब आप उसको कुपुत्र कहेंगे ।

मतलब यह है कि पात्र और अपात्र शब्द अपेक्षाकृत हैं और 'कु' तथा 'सु' विशेषण पतन और उत्थान का बोध कराने वाले हैं। कोई भी व्यक्ति सब बातों के लिए न तो पात्र है, न अपात्र और न सुपात्र है, न कुपात्र । ऐसा होते हुए भी तेरह-पन्थियों ने संसार के समस्त जीवों को सुपात्र और कुपात्र इन दो भागों में ही विभक्त कर डाला है तथा यह फतवा दे दिया है कि साधु संयमी संजती (इन्हीं के माने हुए, चाहे उनमें संयम के गुण हों या नहीं, खाली वेष ही हो) के सिवाय सभी लोग कुपात्र हैं । जान पड़ता है कि सब निर्णय उन्हीं के अधीन है, और उनका जो वाक्य निकले, वह उनके अनुयायी—मारवाड़ी सेठों की तरह, सब के लिए 'तहत' हो जावे ।

एक और भी दलील सुनिये! यदि तेरह-पन्थ की मान्यतानुसार साधु के सिवाय सभी कुपात्र हैं तो वे धर्म का उपदेश किनको देते हैं? कारण कि पात्र ही वस्तु को धारण कर सकता है । अपात्र वस्तु को धारण नहीं कर सकता । जैसे कि सिंहनी का दूध धारण करने को स्वर्ण का कटोरा ही पात्र माना जाता है, दूसरा नहीं । जब अपात्र भी उत्तम पदार्थ को धारण नहीं कर सकता, तब धर्म जैसे सर्वोत्कृष्ट पदार्थ के लिए कुपात्र—कैसे योग्य

बन सकते हैं। श्री वीतराग सर्वज्ञ देव प्रणीत स्याद्वादमय नय निक्षेप आदि सापेक्ष मार्ग को समझने के लिए तो पात्र ही चाहिये। कुपात्रों के हाथ पड़ने से ही स्याद्वादमयी सापेक्ष वाणी का इस प्रकार उल्टा परिणमन हुआ है, क्योंकि तेरह-पन्थ के सिद्धान्तानुसार इनके श्रावक और साधु होने से पहिले इनके बड़े बड़े आचार्य भी कुपात्रों की श्रेणी में ही थे। तब कुपात्र उस वाणी को सम्यक् प्रकार कैसे ग्रहण कर सकते हैं?

तेरह-पन्थी साधु अपने आपको एकान्त रूप से सभी बातों के लिए सुपात्र कहते हैं, परन्तु उनका यह कथन भी सर्वथा झूठ है। क्या वे अनुकम्पादान, संग्रहदान, अभयदान, कारुण्यदान, लज्जादान, गौरवदान, अधर्मदान, करिष्यतिदान और कृतदान के लिए सुपात्र होना तो दूर रहा, पात्र भी हैं? यदि नहीं, तो वे अपने आपको सर्वथा सुपात्र कैसे कहते हैं? इन दानों के लिए तेरह-पन्थी साधु, हमारी दृष्टि में अपात्र और तेरह-पन्थ के सिद्धान्तानुसार कुपात्र हैं या नहीं? धर्मदान के लिए भी साधु पात्र अवश्य हैं, किन्तु सभी साधु, वेषधारी धर्मदान के लिए भी सुपात्र नहीं हैं। 'सु' विशेषण यदि लगाया जा सकता है, तो उन थोड़े से साधुओं को ही, जो बड़ी तपस्याएं करते हैं, तथा आत्मदमन करते हैं। सभी साधु वेषधारियों के लिए 'सु' विशेषण नहीं लगाया जा सकता है, न तपस्वियों के लिए ही सर्वथा

'सु' विशेषण लगाया जा सकता है, तथा यह पात्रता या सुपात्रता धर्मदान की अपेक्षा से ही है, और किसी अपेक्षा से नहीं। अन्य दानादि कार्य के लिए तो साधु 'अपात्र' है, और तेरह-पन्थियों के यहाँ तो सिर्फ सुपात्र तथा कुपात्र, ये दो भेद ही हैं, इसलिए उनके सिद्धान्तानुसार वे कुपात्र हैं।

अब हम दूसरी तरह से यह बताते हैं कि यदि श्रावक कुपात्र है, तो श्रावक को कुपात्र कहने वाले भी कुपात्र ही हैं। यह बात दूसरी है कि श्रावक में कुपात्रता ज्यादा निकले, और साधु में कम निकले, परन्तु श्रावक को कुपात्र कहने वाले भी सुपात्र कभी नहीं हो सकते।

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँच आश्रव हैं। इन पाँचों आश्रवों को हम संख्या में १२३४५ मान लेते हैं। तेरह-पन्थी लोग आश्रव की अपेक्षा से ही श्रावक को कुपात्र कहते हैं, यह बात उनके कथन द्वारा ऊपर सिद्ध की जा चुकी है। मिथ्यात्व को तो साधु ने भी छोड़ दिया है और श्रावक ने भी छोड़ दिया है। बाकी २३४५ संख्या रही। इसमें से अव्रत नाम के आश्रव को साधु ने सर्वथा बन्द कर दिया है और श्रावक ने आंशिक बन्द किया है। इस प्रकार २३४५ संख्या में से साधुओं ने २ का अंक सर्वथा उड़ा दिया है, और श्रावक ने उस दो के अंक को तोड़कर एक कर दिया है। शेष में साधु और

श्रावक बराबर हैं। यदि दोनों द्वारा तोड़े गये आश्रव की संख्या घटा कर आधी करदी जावे, तो श्रावक के जिम्मे आश्रव का अंक १३४५ रहता है और साधुओं के जिम्मे ३४५ रहता है। अब विचार करने की बात है कि जिसको २३४५) रुपया देना है, वह यदि कर्जदार कहा जावेगा, तो क्या जिसे ३४५) रुपया देना है, वह कर्जदार न कहा जावेगा ? क्या उसको कर्ज-रहित कहा जावेगा ? कर्जदार तो दोनों ही हैं, कोई कम कर्जदार है, कोई ज्यादा।

इसलिए इस प्रकार आश्रव की अपेक्षा से ही श्रावक को कुपात्र कहा जाता है, तो साधु भी कुपात्र ही है। यदि कहा जावे कि श्रावक की अपेक्षा साधु पर आश्रव का ऋण बहुत कम है, इसलिए साधु सुपात्र तथा श्रावक कुपात्र है, तो श्रावक इसका जवाब यह देंगे कि मिथ्यात्वी की अपेक्षा श्रावक पर आश्रव का ऋण बहुत कम है, इसलिए मिथ्यात्वी, कुपात्र और श्रावक सुपात्र है। श्रावक की अपेक्षा साधु पर आश्रव का ऋण कम है, इसलिए साधु सुपात्र और श्रावक कुपात्र है। साधु की अपेक्षा केवली में आश्रव का ऋण बहुत कम है, इसलिए केवली सुपात्र और साधु कुपात्र है। बल्कि साधु से श्रावक तो केवल ६ $\frac{२}{६}$$\frac{७}{४}$ गुना अधिक कुपात्र है, परन्तु केवली से साधु ६९ गुना अधिक कुपात्र है, और १४ वें गुण स्थान पर पहुँचे हुए तो योग को रूँध चुके

हैं, आश्रव से बिल्कुल मुक्त हो चुके हैं, उनकी अपेक्षा सयोगी केवली कुपात्र हैं। इस प्रकार कुपात्रता की परम्परा का अन्त तो सिद्ध या अयोगी होने पर ही हो सकता है।

जिस श्रावक ने १२३४५ में से दस हजार का ऋण चुका दिया है, फिर भी यदि वह कुपात्र कहा जाता है, तो जिन्होंने २३४५ में से दो ही हजार का ऋण चुकाया है, वे सुपात्र क्यों कहे जावेंगे? जिन श्रावकों ने साधुओं की अपेक्षा अपने ऋण के पाँच भाग चुका दिये हैं, उनको वे साधु, कुपात्र किस मुँह से कह सकते हैं, कि जिनको केवलियों की अपेक्षा ६८ गुना ऋण चुकाना बाकी है। अपनी फूटी आँख को न देखकर दूसरे की आँख की छींट को देखने और उसे काना कहने वाले शर्मदार होते हैं या बे-शर्म! यदि शर्मदार होते, तब तो ऐसा नहीं कह सकते।

श्रावक ने जो व्रत लिये हैं, उसके कारण वह व्रताव्रती ही कहा जावेगा, अव्रती नहीं, चाहे वह व्रत सामान्य हो या अधिक हो। परन्तु जब से उसने व्रत लिया, तब से अव्रत की क्रिया उसको नहीं लग सकती। यह बात तो तेरह-पन्थियों को भी मान्य होनी चाहिए। मान्य क्यों न होगी, जब कि वे स्वयं 'भ्रमविध्वंसन' मिथ्यात्वी क्रियाधिकार के पाँचवें बोल पृष्ठ १२-१३ में कहते हैं—

वली मिथ्यात्वी ने भली करणी रे लेखे सुव्रती कह्यो छे। ते पाठ लिखिये छे।

ऐसा कहकर उत्तराध्ययन सूत्र के ७ वें अध्ययन की २० वीं गाथा उद्धृत करते हुए लिखते हैं—

अथ इहाँ इम कह्यो। जे पुरुष गृहस्थ पणे प्रकृति भद्र परिणाम, क्षमादि गुण सहित एहवा गुणा ने सुव्रती कह्या। परं १२ व्रतधारी नथी। ते जाव मनुष्य मरी मनुष्य में उपजे। ए तो मिथ्यात्वी अनेक भला गुणां सहित ने सुव्रती कह्यो। ते करणी भली आज्ञा मां ही छे। अने जे क्षमादि गुण आज्ञा में नहीं हुवे तो सुव्रती क्यूँ कह्यो। ते क्षमादिक गुणां री करणी अशुद्ध होवे तो कुव्रती कहता। ए तो साम्प्रत भली करणी आश्रयी मिथ्यात्वी ने सुव्रती कह्यो छे। अने जो सम्यक् दृष्टि हुए तो मरी ने मनुष्य हुए नहीं। अने इहाँ कह्यो ते मनुष्य मरी मनुष्य में उपजे ते न्याये प्रथम गुण ठाणे छे। तेह ने सुव्रती कह्यो। ते निर्जरा री शुद्ध करणी आश्रयी कह्यो छे।

इस कथन द्वारा वे कहते हैं कि क्षमादि गुणों के कारण से मिथ्यात्वी सुव्रती है, और अपने इस कथन की पुष्टि में उत्तरा-

ध्ययन सूत्र का पाठ भी देते हैं। मिथ्यात्वी के पाँचों आश्रव खुले हुए हैं। उसने कोई व्रत या प्रत्याख्यान नहीं लिया है, और जो शुभ करणी करता है, वह भी मिथ्यात्व के साथ करता है, सम्यक्त्व पूर्वक नहीं करता है। ऐसा होते हुए भी जब वह सुव्रती है, तो जिसने मिथ्यात्व और आंशिक अव्रत इन दो आश्रवों को बन्द कर दिया है, वह श्रावक क्या सुव्रती न होगा?

इस प्रकार श्रावक भी आंशिक सुव्रती है, और साधु भी सुव्रती है। ऐसी दशा में श्रावक कुपात्र और साधु सुपात्र कैसे हो सकता है?

इसके सिवाय वे कहते हैं कि "अव्रती जीव छः काय का शस्त्र है। उसकी शान्ति पूछना अथवा उसको शान्ति देना, अथवा अनेक प्रकार से उसकी सेवा करना सावद्य पाप है।" परन्तु बारह व्रतधारी श्रावक तो अव्रती नहीं है। उसके लिए भगवान ने जितने भी व्रत बताये हैं, वे सब व्रत उसने स्वीकार किये हैं, फिर श्रावक का कौनसा व्रत ऐसा शेष रह गया है, जिसके न लेने से वह अव्रती कहला सकता है? यदि कहा जावे कि साधु की अपेक्षा उसमें चारित्र कम है, इसलिए उसको अव्रती कहा जाता है, तो यथाख्यात चारित्र की अपेक्षा वर्तमान साधु में में भी चारित्र बल बहुत ही कम है। फिर साधु अव्रती क्यों नहीं? बल्कि श्रावक के लिए चारित्र की जो अन्तिम और

श्रेष्ठतम सीमा बताई गई है, श्रावक उस सीमा का पालन पूर्णतया कर रहा है, परन्तु साधु के लिए जो अन्तिम और श्रेष्ठतम सीमा बताई गई है, साधु उससे बहुत ही दूर है, पिछड़ा हुआ है। ऐसा होते हुए भी साधु सुव्रती तथा सुपात्र और श्रावक अव्रती तथा कुपात्र कैसे रह सकता है ? श्रावक भी सुव्रती तथा सुपात्र है। फिर भी तेरह-पन्थी साधु श्रावक के विषय में और श्रावकत्व की चरम सीमा पर पहुँचे हुए ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक के लिए भी कहते हैं कि श्रावक को खिलाना पाप है, श्रावक की सेवा करना पाप है, ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक को भिक्षा देना पाप है और श्रावक की कुशल-क्षेम पूछना भी पाप है।

हम पूछते हैं कि जब सुव्रती होने पर भी श्रावक को खिलाना या ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक को भिक्षा देना पाप है, तो साधु को देना धर्म कैसे हो जावेगा ? यदि तेरह-पन्थी कहें कि श्रावक में अभी अव्रत शेष हैं, तो उनका यह कहना झूठ है। श्रावक के लिए जितने व्रत बताये गये हैं, वे सब व्रत स्वीकार कर लेने पर अव्रत कहाँ रहा ? यदि कहा जावे कि व्रत लेने के बाद जो बाकी रह गया है, वह अव्रत है, तो जो बाकी रहा है उसे भी त्यागना साधु का व्रत है, श्रावक का व्रत नहीं है। श्रावक के तो जितने भी व्रत कहे गये हैं, श्रावक उन सब को स्वीकार कर चुका है। श्रावक के व्रतों की मर्यादा जितनी कही गई है,

श्रावक उन सब का पूर्णतया पालन करता है। वह श्रावक पद का आराधक है, ऐसा सूत्र में कहा है। वह मर्यादा के विरुद्ध कोई आचरण नहीं करता। लेकिन साधु तो मर्यादा के विरुद्ध आचरण करते हैं, क्योंकि परिग्रह में शरीर की भी गणना है। साधुओं को शरीर से ममत्व है या नहीं? यदि नहीं, तो नित्य घर घर भोजन के लिए क्यों भटकते हैं? शीत, ताप और वर्षा से बचने का प्रयत्न क्यों करते हैं? पैर में एक छोटासा काँटा भी लग जाता है, तो निकालने क्यों बैठते हैं? रोग होने पर वैद्य, डाक्टर को शरण क्यों लेते हैं? अर्श होने पर ऑप्रेशन क्यों करने देते हैं?* यदि कोई ऑप्रेशन करने लगे, तो उसको रोक

---

* तेरह-पन्थी, 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ २६८ में कहते हैं—'जे अर्श छेदे ते वैद्य ने क्रिया लागे, अने जे साधु नी अर्श छेदाणी, तेहने क्रिया न लागे' इसी बात को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं— 'तिवारे कोई कहे, ए वैद्य ने क्रिया कही ते पुण्य नी क्रिया छे, पिण पाप नी क्रिया नहीं। एहवो ऊँधो अर्थ करे, तेंहने उत्तर—इहाँ कह्यो, अर्श छेदे ते वैद्य ने क्रिया लागे, पिण धर्मान्तराय साधु रे पड़ी। धर्मान्तराय ते धर्म में विघ्न पड्यो, तो जे साधु रे धर्मान्तराय पाडे, तेहने शुभ क्रिया किम हुवे? ए धर्मान्तराय पाड्याँ तो पुण्य बँधे नहीं। धर्मान्तराय पाड्याँ तो पाप नी क्रिया लागे छे।'

क्यों नहीं देते ? यदि आप भोजन न करें; शीत, ताप, वर्षा से बचने का प्रयत्न न करें; पैर का काँटा न निकालें; रोग होने पर, वैद्य डाक्टर की शरण न लें तो क्या आपको पाप होगा ? सनत्कुमार (चक्रवर्ती) मुनि ने शरीर के रोग नहीं मिटाये तो क्या उनको पाप हुआ ? गजसुकुमार मुनि ने शरीर की रक्षा का प्रयत्न नहीं किया तो क्या उन्हें पाप लगा ? जिन कल्पी साधु शीत, वर्षा, ताप सहते हैं, तो क्या पाप करते हैं ? अनेक साधुओं ने साधु होते ही आहार पानी त्याग दिया, तो क्या उनको पाप हुआ ? यदि नहीं, तो फिर आप शरीर-रक्षा का

यह युक्ति उनकी मूर्खतापूर्ण है। कारण कि अर्श (मस्सा) छेदने से साधु के धर्मान्तराय नहीं पड़ती, परन्तु मस्सा के कारण से साधु को जो पीड़ा होती थी, जिससे उनके शुभ ध्यान में विघ्न पड़ता था, किसी समय पर रोग और पीड़ा के कारण आर्त्तध्यान भी होता था; वह मिटाया और भविष्य में समाधि रहेगा, उस समाधि करने के निमितभूत वैद्य, डाक्टर ही हैं, वास्ते उसको महा पुण्य और अशुभ कर्म की निर्जरा होती है। जैसे जीवानन्द वैद्य ने मुनि के शरीर में क्रमियादि रोग की शान्ति करके तीर्थंङ्कर नाम के योग्य पुण्य एकत्रित किए थे।

तेरह-पन्थी कहते हैं कि जिस वैद्य ने साधु का अर्श (मस्सा) छेदा है, उसने साधु के धर्म में विघ्न डाला है, साधु को धर्मान्तराय दी है, इसलिए उसको पाप की क्रिया लगती है, लेकिन साधु को क्रिया नहीं लगती। क्या ही अच्छा न्याय है। अर्श छेदे उसको पाप, और जिनका रोग गया उनको धर्म।

प्रयत्न क्यों करते हैं, और जो शरीर से ममत्व रखते हैं, तो आपका परिग्रह व्रत नष्ट हुआ या रहा ?

इस प्रकार साधु तो पहिले व्रत अहिंसा (जैसा कि पूर्व के प्रकरण में नाव विहार आदि के उदाहरण देकर सिद्ध किया जा चुका है) को भी तोड़ते हैं, पाँचवें परिग्रह व्रत को भी तोड़ते हैं, और दूसरे सत्यव्रत को भी तोड़ते हैं, लेकिन श्रावक ने जितने भी व्रत लिये हैं, उन सबका पूर्णतया पालन करता है, फिर भी साधु को आहार पानी देना धर्म और श्रावक को खिलाना पिलाना पाप कैसे है ? व्रतों का भंग साधु करते हैं, ऐसी दशा में सुव्रती साधु रहे या श्रावक रहा ? अव्रत साधु में आया, या श्रावक में आया ?

यदि तेरह-पन्थी साधु, यह कहें कि हम में यानी साधुओं में जो कमी है, साधु उसी कमी को मिटाने की ही भावना रखते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि क्या श्रावक इस प्रयत्न में नहीं रहता है ? वह भी नित्य ही चौदह नियम का चिंतवन करता है व मनोरथादि भावना भाता है, जिसमें से एक यह भी है कि कब वह दिन धन्य होगा, जब मैं आरम्भ परिग्रह का सर्वथा त्यागी होऊँगा। इस तरह इस अंश में तो साधु और श्रावक बराबर ही रहे, और ग्रहण किये हुए व्रतों का पालन करने के अंश में साधु की अपेक्षा श्रावक श्रेष्ठ ही

रहा। ऐसी दशा में साधु सुपात्र और श्रावक कुपात्र कैसे हो सकता है ?

तेरह-पन्थी साधु दूसरे सत्य व्रत को भी शास्त्र पाठ का विपरीत अर्थ करके तोड़ते हैं। यद्यपि इस विषयक सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, लेकिन विषय बढ़ जावेगा और अभी इसमें आगे भी कुछ आवेगा ही, इसलिए यहाँ केवल एक ही उदाहरण देकर सन्तोष करते हैं।

उपासक दशांग सूत्र में पन्द्रह कर्मादान बताकर श्रावकों के लिए कहा है कि ये कर्मादान (व्यापार) श्रावकों को जानने चाहिएँ, परन्तु इनका आचरण न करना चाहिये। उन पन्द्रह कर्मादान में पन्द्रहवाँ कर्मादान 'असईजण पोसणयां' है। इसका अर्थ है-असई यानी असती, जण यानी लोग, पोसणया यानी पोषण करना। अर्थात् असती (दुराचारिणी) स्त्रियों का पोषण करने का व्यापार करना। जैसा कि आजकल बम्बई आदि में होता है, कि कुल्टाओं को रखकर, उनके द्वारा आजीविका चलाते हैं। श्रावकों के लिए यह कर्म निषिद्ध है।

असई का अर्थ असंयति कदापि नहीं होता। 'अ' 'सई' का निषेधक है। मूल शब्द 'सई' है। 'सई' शब्द साधु के अर्थ में न तो है, न कहीं आया ही है। सई शब्द का अर्थ सती होता है सो 'अ' से सतीत्व का निषेध रूप। असती यानी कुल्टा

व्यभिचारिणी होता है। ऐसा होते हुए भी तेरह-पन्थी लोग 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ८५ में 'सई' शब्द का अर्थ संयति, और 'असई' शब्द का अर्थ असंयति करते हैं। ऐसा अर्थ वे यह बताने के लिए करते हैं कि देखो, असंयति का पोषण करना, पन्द्रह कर्मादान में से एक है, और पन्द्रह कर्मादान, श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य हैं, इसलिए असंयति (साधु के सिवाय अन्य लोगों) का पोषण करना पाप है। वे 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ८५ में लिखते हैं—

"तिहां 'असती जण पोसणया' तथा 'असई पोषणया' कह्यो छे। एह नो अर्थ केतलाक विरुद्ध करे छे*। अने इहाँ १५ व्यापार कह्या छे। ति वारे कोई इम कहे इहाँ असंयती पोष व्यापार कह्यो छे। तो तुम्हें अनुकम्पा रे अर्थे असंयमो ने पोष्याँ व्यापार किम कह्यो छो। तेहनो उत्तर—ते असंयती पोपी पोपी ने व्यापार करे। ते असंयतो ने पोपे ते व्यापार नथी कहिये। परं पाप किम न कहिये। जिम कोयला करी वेचे ते 'अंगाल कर्म' व्यापार अने दाम विना आग लाय ने कोयला करी आपे ते व्यापार नथी परं पाप किम न कहिये। तिम असंयती

* उनके कहने का अभिप्राय यह है कि कई लोग 'असती' (वेश्या आदि) पोषण अर्थ करते हैं।

पोषी पोषी आजीविका करे। दानशाला ऊपर रहे रोजगार रे वास्ते तथा ग्वालियादिक दाम लेइ, गाय भैंस्यां आदि चरावे। इम कुक्कुट मार्जार आदिक पोषी पोषी आजीविका करे। आदिक शब्द में तो सर्व असंयति ने रोजगार रे अर्थे राखे ते असंयती व्यापार कहिये। अने दाम लियां विना असंयती ने पोषे ते व्यापार नहीं। परं पाप किम न कहिये। ए तो पनरे १५ ई व्यापार छे ते दाम लेई करे तो व्यापार अने पनरे १५ ई दाम विना खेवे तो व्यापार नहीं। परं पाप किम न कहिये।"

इस कथन का सार यह है कि पैसे लेकर असंयति (साधु के सिवाय और समस्त जीव) का पोषण करना तो 'असंयति पोषण' नाम का कर्मादान* (व्यापार) है, और बिना पैसे लिये असंयति का पोषण करना व्यापार तो नहीं है, लेकिन पाप तो है ही।

---

*पन्द्रह कर्मादान (व्यापार) महान् पाप पूर्ण कार्य है, इसलिए श्रावक के लिए पन्द्रह कर्मादान का सेवन (यानी उन पन्द्रह व्यापार का करना) निषिद्ध है। तेरह-पन्थी कहते हैं कि पैसे लेकर असंयति का पोषण करना कर्मादान (पापपूर्ण) है और बिना पैसे लिए पोषण करना भी पाप है। इसके अनुसार यदि असंयति के साथ व्यापार किया जाता है, तो व्यापार करना भी पाप है और उनको मुफ्त चीज़ दी जाती है, तो वह भी पाप है। इसके लिए उन्होंने उदाहरण भी दिया

इस कथन में तेरह-पन्थियों के झूठ, कपट, छल और धूर्त्तता का दिग्दर्शन कराते हैं। पहिले तो उन्होंने लिखा कि असती जण पोसणया का अर्थ कितने ही लोग विरुद्ध करते हैं। उन्होंने यह लिखा तो सही, परन्तु फिर यह नहीं बताया कि विरुद्ध अर्थ क्या करते हैं, और वास्तविक अर्थ क्या और क्यों है? ऐसा कुछ न कह कर इस बात को ही उड़ा देते हैं और जैसे बच्चे को समझाने के लिए बात पलटा दी जाती है, उसी तरह बात पलटा कर आप ही प्रश्न खड़ा करते हैं कि 'यहाँ तो असंयती पोष व्यापार कहा है, अनुकम्पा के लिए असंयती के पोषण को व्यापार कैसे कहते हो? यह प्रश्न खड़ा किया कैसे और किस अर्थ पर से असंयति पोष व्यापार कहाँ कहा है, यह वे ही जानें। हम पहिले कह चुके हैं कि 'असती जण पोषणया' का अर्थ असती स्त्रियों के पोषण द्वारा आजीविका चलाना है। यह अर्थ प्रसिद्ध भी है, शास्त्रानुसार भी है, तथा शब्दानुसार भी है। इतना ही नहीं, किन्तु स्वयं तेरह-पन्थी भी 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ८४ में कर्मादानों

है, जैसे दानशाला पर नौकरी करता है, वह कर्मादान तो नहीं है परन्तु पाप तो है, और पैसे लेकर गाय भैंस चराता है, वह कर्मादान है। इस प्रकार असंयति से व्यापार सम्बन्ध, नौकरी सम्बन्ध रखना भी पाप है और पाप भी साधारण नहीं, कर्मादान का सेवन। कर्मादान का सेवन करना ऐसा पाप माना जाता है, कि उस पाप को करने वाला, श्रावक भी नहीं रह सकता।

का अर्थ बताते हुए असई पोसणिया का अर्थ 'वेश्या आदि ने पोषणआदिक कर्म' लिखते हैं। फिर भी इस अर्थ को एक ओर फेंक कर दया तथा दान का विनाश करने के लिए असई पोसणिया का अर्थ असंयति पोषण कर डाला, तथा उस पर प्रश्न उत्पन्न करके उसका समाधान भी कर डाला। धन्य है, सुपात्र साधुओं को ! क्या कोई श्रावक भी ऐसा कर सकेगा ?

तेरह-पन्थियों के झूठ, कपट और धोखेबाजी का एक और उदाहरण लीजिये। तेरह-पन्थी लोग 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ८० में लिखते हैं—

तथा ठाणांग ठाणे ४ उद्देश्या ४ में कुपात्र ने कुक्षेत्र कह्या। ते पाठ लिखिये छे।

"चत्तारि मेहा प० तं० खेत्तवासी णाम मेगे णो अक्खेतवासी, एवामेव चत्तारि पुरिस जाया प० तं० खेत्तवासी णाम मेगे णो अक्खेतवासी।

इहाँ पिण कुपात्र दान कुक्षेत्र कह्या कुपात्र रूप कुक्षेत्र में (पुण्य रूप) बीज किम उगे। डाहा हुवे तो विचारी जोइजो।

यह है तेरह-पन्थियों का कथन। इस कथन द्वारा तेरह-पन्थी ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे के चौथे उद्देश्ये की दी गई चौभंगी

से यह सिद्ध करते हैं कि इस चौभंगी में कुपात्रदान को कुक्षेत्र कहा। कुपात्र रूप कुक्षेत्र में पुण्य रूप बीज कैसे उग सकता है ?
परन्तु न तो पूरी चौभंगी दी, न पूरी उपमा उतारी, क्योंकि पूरी चौभंगी देते तो वहीं पोल खुल जाती।

अब जरा इस चौभंगी के अर्थ पर विचार कीजिये। यह चौभंगी चार प्रकार के मेघ की उपमा देकर, चार प्रकार के सम्पत्तिवान पुरुषों के भेद बताती है। इसमें कहा है—

चार प्रकार के मेघ कहे गये हैं। एक मेघ क्षेत्र में तो बरसता है, परन्तु अक्षेत्र में नहीं बरसता। यानी जहाँ बरसना चाहिये, वहाँ तो बरसता है, और जहाँ न बरसना चाहिये, वहाँ नहीं बरसता। दूसरा मेघ अक्षेत्र में बरसता है और क्षेत्र में नहीं बरसता। तीसरा मेघ क्षेत्र और अक्षेत्र दोनों ही में बरसता है और चौथा मेघ न क्षेत्र में बरसता है, न अक्षेत्र में ही बरसता है। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष हैं। एक उस मेघ की तरह हैं, जो क्षेत्र में बरसता है, परन्तु अक्षेत्र में नहीं बरसता। दूसरे उस मेघ की तरह हैं, जो अक्षेत्र में तो बरसता है, परन्तु क्षेत्र में नहीं बरसता। तीसरे उस मेघ की तरह हैं, जो क्षेत्र में भी बरसता है और अक्षेत्र में भी बरसता है। तथा चौथे उस मेघ की तरह हैं, जो क्षेत्र या अक्षेत्र कहीं भी नहीं बरसता।

यह इस चौभंगी का अर्थ है। इसमें न तो कुपात्रदान का जिक्र है, न कुपात्र, न कुक्षेत्र तथा पुण्य का जिक्र है। फिर भी तेरह-पन्थी लोग इस पाठ के अर्थ में इन सबको जबर्दस्ती यह सिद्ध करने के लिए घुसेड़ते हैं कि तेरह-पन्थी साधुओं के सिवाय और सब कुपात्र हैं, इसलिए उनको दान देना पाप है।

इसी तरह सैकड़ों जगह लोगों को धोखे में डालने और अपने मत का प्रचार करने के लिए तेरह-पन्थी साधुओं ने कई जगह शास्त्र के अर्थ का अनर्थ अथवा इच्छानुसार अर्थ किया है। जो लोग चाहें, वे 'भ्रम-विध्वंसन' ग्रन्थ देख सकते हैं, जिसका प्राप्तिस्थान भैरोंदान ईश्वरचन्द चोपड़ा, गंगाशहर (बीकानेर) लिखा है। हमारा अनुमान है कि 'भ्रम-विध्वंसन' के झूठ कपट की बातें अब खुल गई हैं, इसलिए पत्र लिखने पर भी 'भ्रम-विध्वंसन' पुस्तक शायद ही प्राप्त हो। प्रयत्न कर देखिये, और यदि प्राप्त न हो, तो फिर हमारे पास आकर देखिये।

कहना यह है कि इस तरह झूठ कपट का आश्रय लेनेवालों का सत्य-व्रत क्या सुरक्षित रह सकता है? झूठ कपट ही नहीं, किन्तु जिसे झूठ में झूठ, कपट में कपट और माया में माया कहा जाता है, तेरह-पन्थी साधु वैसा ही करते हैं। शास्त्र के विपरीत अर्थ की बात श्रावकों को ज्ञात न हो जावे, इसके लिए तेरह-पन्थी साधुओं ने श्रावकों के लिए सूत्र पठन का ही निषेध कर दिया है।

श्रावकों का सूत्र पठन, जिनाज्ञा के बाहर बताया है और जिनाज्ञा के बाहर के समस्त कार्यों को तेरह-पन्थी साधु पाप कहते ही हैं। इस प्रकार श्रावकों का सूत्र पढ़ना पाप ठहराया है। श्रावकों को सूत्र पढ़ना पाप है, यह बताने और सिद्ध करने के लिए 'भ्रम-विध्वंसन' में पृष्ठ ३६१ से ३७३ तक 'सूत्र पठनाऽधिकार' नाम का एक पूरा अध्याय ही है।

इन सब बातों के होते हुए तेरह-पन्थी साधुओं का दूसरा सत्य-व्रत शेष कहाँ रहा? जैसा कि हम बता चुके हैं, तेरह-पन्थी साधु स्वीकृत-व्रत में से पहले, दूसरे और पाँचवें व्रत का स्पष्टतया उल्लंघन करने वाले हैं, इसलिए वे ही कुपात्र हैं; लेकिन श्रावक ने जितने व्रत स्वीकार किये हैं, उनका पूरी तरह पालन करता है, इसलिए वह कुपात्र नहीं है।

इस प्रकरण में हम बहुत लिख चुके हैं। अन्त में यह कह कर, हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं कि तेरह-पन्थी साधुओं का अपने सिवाय और सब लोगों को कुपात्र बताना तथा और किसी की रक्षा-सहायता को पाप बताना बिल्कुल झूठ, असंगत और मनघडन्त सिद्धान्त है। अपने मत का प्रचार करने के लिए ही उन्होंने सुपात्र तथा कुपात्र शब्दों की कल्पना की है, और इन शब्दों का उपयोग दया दान को पाप ठहराने में किया है।
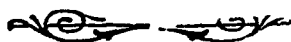
दान-पुण्य

तेरह-पन्थी लोग पुण्य का अलग बंधना नहीं मानते। वे कहते हैं कि—

'पुण्य तो धर्म लारे वंधे छे, ते शुभ योग छे, ते निर्जरा विना पुण्य निपजे नहीं।'

('भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ८१)

इसके अनुसार तेरह-पन्थी लोगों का कथन है कि पुण्य की उत्पत्ति निर्जरा के साथ ही होती है। बिना निर्जरा के पुण्य की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु जिस तरह खेत में अनाज के साथ घास अपने आप ही उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार निर्जरा के साथ पुण्य भी उत्पन्न होता है। पुण्य स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न नहीं होता।

इसी दलील के आधार पर तेरह-पन्थी लोग साधु के सिवाय और किसी को दिये गये दान में पुण्य नहीं बताते हैं। वे कहते हैं कि जहाँ निर्जरा नहीं वहाँ पुण्य नहीं, और साधु के सिवाय जो दान दिया जाता है, उससे निर्जरा नहीं होती, इसलिए पुण्य भी नहीं होता। परन्तु उन लोगों का यह सिद्धान्त बिल्कुल झूठा है। 'श्री दशवैकालिक सूत्र' के पाँचवें अध्ययन में जो जो आहार-पानी साधु के लिए प्रासुक होने पर भी अकल्पनीक बताया है, वहाँ ऐसा कहा है कि 'पुणट्ठापगडं इमं' अर्थात् पुण्य के लिए बनाया हुआ यह पदार्थ मुझे नहीं कल्पता है, ऐसा साधु कहे। तब विचारने की बात है कि वह पुण्य के लिए बना हुआ साधु तो लेते नहीं, भगवान ने ऐसा आहार-पानी लेने की मनाई की है, तब वह पुण्यार्थ किसके लिए हुआ? इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पुण्य के लिए बनाया हुआ उसी को कहते हैं जो रंक, भिखारी, दुखी, पशु-पक्षी आदि के लिए बनाया गया हो। इसमें निर्जरा का कोई स्थान नहीं है। ऐसे दीन हीन अपंग अनाश्रितों को देने में पुण्य ही होता है। इसलिए शास्त्रकार ने कहा है कि 'पुणट्ठा' इस पद से पुण्य, साधु के सिवाय देने से भी होता है और वह जीव को ऊँचा उठाने में कारणभूत होता है।

'श्री स्थानांग सूत्र' के नववें स्थान में नव प्रकार का पुण्य कहा है। वहाँ मूल-पाठ में "निर्वद्य, सावद्य या निर्जरा के साथ

होता है, ऐसा कोई विवरण नहीं है। टीकाकार ने यह बताया है कि—"पात्रायान्नदानाद्य तीर्थङ्करं नामादि पुण्य-प्रकृतिबंध स्तदन्न पुण्यं एवं सर्वत्र"—इसका भाव यह है कि पात्र को अन्नादि देने से तीर्थंकर नामादि पुण्य-प्रकृति का बन्ध होता है और उनके सिवाय दूसरों को देने से दूसरी पुण्य-प्रकृति का बन्ध होता है, क्योंकि पुण्य-प्रकृतिएँ ४२ प्रकार की हैं सो उत्कृष्ट पात्र को देने से तीर्थंकर नाम जैसी उत्कृष्ट पुण्य-प्रकृति का बन्ध है और शेष, जैसे पात्र वैसी सामान्य विशेष पुण्य-प्रकृति जानना। परन्तु तेरह-पन्थी लोग साधु के सिवाय पुण्य-प्रकृति का निषेध करने के लिए कहते हैं कि—

"अनेरा ने दीधां अनेरी प्रकृति नो वन्ध कह्यो छे ते अनेरी प्रकृति तो पाप नी छे"

('भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ७६)

और भी कहते हैं कि—

अव्रत में दान दे जेहनो टालन रो करे उपायजी।
जाने कर्म वंधे छे म्हायरे म्हांने भोगवतां दुखदायजी॥
अव्रत में दान देवां तणूँ कोई त्याग करे मन शुद्धजी।
तिणरो पाप निरन्तर टालियो तिणरी वीर वखाणी बुद्धजी॥

('सद्धर्म मण्डन' पृष्ठ १०१)

अर्थात्—अव्रती (जो साधु नहीं है) को दान देने से मुझे कर्म का बन्ध होगा, जिनको भोगना महा दुःखदायी होगा, ऐसा

समझ कर अव्रती (साधु के सिवा अन्य लोगों) को दान देने से बचने का उपाय करे। जो साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देने का शुद्ध मन से त्याग करता है, उसका पाप टल जाता है और भगवान महावीर उसकी बुद्धि की प्रशंसा करते हैं।

इस तरह साधु के सिवाय और सभी जीव को दान देना, पाप ठहरा कर तेरह-पन्थी लोग, साधु* के सिवाय और को दान देने का त्याग कराते हैं। तेरह-पन्थियों की इस मान्यता से—

(१) भूखे को भोजन; प्यासे को पानी; नंगे को वस्त्र; वर्षा, शीत व ताप से कष्ट पाते हुए को स्थान देना पाप है।

(२) कबूतरों को दाना डालना तथा गायों को घास डालना आदि भी पाप है।

(३) और तो ठीक, परन्तु अपने माता-पिता को भोजन देना और उनकी सेवा करना भी पाप है।

इसी तरह देना मात्र पाप हो जाता है, फिर वह चाहे ब्राह्मण को दिया गया हो, भिखारी को दिया गया हो, अपंग अपाहिज को दिया गया हो, कोढ़ी कबूतर को दिया गया हो, गौशाला

---

*यह बताया जा चुका है कि तेरह पन्थी साधु, केवल अपने को ही साधु मानते हैं, और किसी को भी साधु नहीं मानते हैं। वे, व्रती का अर्थ साधु ही करते हैं; व्रतधारी श्रावक की गणना भी अव्रती और कुपात्र में करते हैं।

अनाथाश्रम आदि संस्थाओं को दिया गया हो, अथवा अपने माता पिता को दिया गया हो।

तेरह-पन्थी पुण्य तत्त्व का स्वतन्त्र उत्पादन मानते ही नहीं हैं, किन्तु यही मानते हैं कि पुण्य निर्जरा के साथ ही उत्पन्न होता है। लेकिन इस सम्बन्ध में यातो तेरह-पन्थी लोग भूलते हैं, अथवा वे दान को पाप बताने के लिए ही ऐसा जान-बूझ कर मानते हैं। यदि पुण्य का उत्पादन स्वतन्त्र रीति से न हो सकता होता, तो पुण्य को अलग तत्त्व ही क्यों बताया जाता ? खेत में अनाज के साथ उत्पन्न होने वाले घास का अलग वर्णन कोई नहीं करता। दूसरे, यदि निर्जरा के साथ पुण्य उत्पन्न होता है, तो पाप किसके साथ उत्पन्न होगा ? जैसे पुण्य और पाप भिन्न गुण वाले साथी हैं, दोनों आश्रव-तत्त्व की पर्याय हैं, उसी तरह संवर और निर्जरा भी भिन्न गुण वाले साथी हैं और वे मोक्ष-तत्त्व का पर्याय रूप हैं। इसलिए जब पुण्य की उत्पत्ति निर्जरा के साथ ही मानी जाती है, तो पाप की उत्पत्ति किसके साथ मानी जावेगी ? फिर बेचारा पाप अकेला और स्वतन्त्र क्यों उत्पन्न होगा ?

तीसरी दलील और लीजिये ! निर्जरा दो तरह की होती है, अकाम और सकाम। अकाम निर्जरा तो बन्ध का ही कारण मानी जाती है, वह निर्जरा ऐसी नहीं है जो नये कर्म का बन्ध न

कराती हो। दूसरी सकाम निर्जरा है। सकाम निर्जरा सम्यग्-दृष्टि ही कर सकता है, मिथ्या दृष्टि कर नहीं सकता। सकाम निर्जरा आत्मा को मोक्ष प्राप्त कराने वाली मानी गई है, और यदि मिथ्या दृष्टि भी सकाम निर्जरा कर सकता हो, और सकाम निर्जरा करके मोक्ष प्राप्त कर सकता हो, तो फिर सम्यक्त्व व्यर्थ हो जावेगा। फिर सम्यक्त्व की कोई आवश्यकता ही न रहेगी।

जब मिथ्यादृष्टि भी सकाम निर्जरा कर मोक्ष प्राप्त कर सकेगा, तब सम्यक्त्व की क्या कीमत रही? इसलिए सम्यग्दृष्टि ही सकाम निर्जरा कर सकता है। जीव सम्यग्दृष्टि तभी माना जाता है जब कि निश्चय में तो दर्शन सप्तक यानी अनन्तानुबन्धी चौकड़ी एवं मिथ्यात्व मोहिनी, मिश्र मोहनीय तथा सम्यक्त्व मोहिनी इन सात प्रकृतियों का क्षयोपशम करे और व्यवहार में जीवा-जीवादि नव-तत्त्वों को समझे तथा देव गुरु धर्म का स्वरूप समझकर शुद्ध देव गुरु धर्म की श्रद्धान् करे, तब सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। जहाँ तक सम्यक्त्व नहीं होता, सकाम निर्जरा नहीं कर सकता। पुण्य-बन्ध तो पहिले से लगा कर तेरहवें गुणस्थान तक सभी जगह होता है। जब आत्मा एकेन्द्रिय अवस्था में होता है, वहाँ पर सम्यक्त्व तो होता ही नहीं और सम्यक्त्व बिना सकाम निर्जरा नहीं, तब बिना निर्जरा के पुण्य-

प्रकृति कैसे बढ़ती है? यदि पुण्य-प्रकृति का विकाश नहीं माना जावे तो एकेन्द्रिय जीव, द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक कैसे पहुँचे?

सम्यक्त्व तो पंचेन्द्रिय को ही प्राप्त होती है, वहाँ तक पुण्य-प्रकृति कैसे बंधे? और सुनिये! प्रथम गुणस्थान में वर्तते हुए जीव को ११७ प्रकृति का बन्ध बताया है, जहाँ ३९ पुण्य-प्रकृति हैं। वहाँ सकाम निर्जरा तो है नहीं, फिर बिना सकाम निर्जरा के पुण्य-प्रकृति बंधी या नहीं? इसलिए यही मानना होगा कि पुण्य का उत्पादन निर्जरा के बिना भी हो सकता है और पुण्य रहित निर्जरा भी हो सकती है। यानी एकान्त रूप से पुण्य भी उत्पन्न होता है, और एकान्त रूप से निर्जरा भी होती है। यदि पुण्य रहित निर्जरा का होना न माना जावेगा, तो उस दशा में जीव को कभी मोक्ष हो ही नहीं सकता। क्योंकि निर्जरा के साथ पुण्य की उत्पत्ति आवश्यक मानने पर जीव जैसे जैसे कर्म की निर्जरा करेगा, वैसे ही वैसे पुण्य उत्पन्न होता रहेगा और जब तक पुण्य तथा पाप दोनों ही नहीं छूट जाते, तब तक मोक्ष नहीं हो सकता।

मतलब यह कि तेरह-पन्थियों का यह कहना बिलकुल गलत है कि पुण्य तो निर्जरा के साथ ही होता है, निर्जरा के बिना पुण्य नहीं होता। इसके लिए तेरह-पन्थी लोग खेत के अनाज और घास का जो उदाहरण देते हैं, उसी उदाहरण का उपयोग

हम भी करते हैं और कहते हैं कि जिस तरह घास, खेत में अनाज के साथ आप ही उत्पन्न हो जाती है और कभी अनाज के न होने पर भी उत्पन्न होती है, तथा कभी केवल घास ही उत्पन्न की (बोई) जाती है, उसी तरह पुण्य कभी निर्जरा के साथ भी उत्पन्न होता है, कभी निर्जरा के बिना भी उत्पन्न होता है, और कभी केवल पुण्य ही उत्पन्न किया जाता है। जिस प्रकार आवश्यकतानुसार घास भी उपादेय माना जाता है, उसी प्रकार आवश्यकतानुसार पुण्य भी उपादेय है। जिस प्रकार आवश्यकता पूरी हो जाने पर घास फेंक दी जाती है, उसी प्रकार आवश्यकता पूरी हो जाने पर पुण्य भी त्याग दिया जाता है। परन्तु जिस प्रकार आवश्यकता होने पर घास भी उगाई जाती है, घास की भी रक्षा की जाती है, उसी प्रकार आवश्यकता के लिए पुण्य भी उत्पन्न किया जाता है, और पुण्य की भी रक्षा की जाती है।

जिन लोगों के पास पशु अधिक होते हैं, वे अनाज के उत्पादन की अपेक्षा घास के उत्पादन का अधिक प्रयत्न करते हैं। बल्कि कभी कभी तो बोये हुए अनाज का उपयोग भी घास के बदले करते हैं। उसी प्रकार जो लोग संसार व्यवहार में है, वे भी निर्जरा करने की अपेक्षा पुण्य का अधिक उत्पादन कर सकते हैं, और करते भी हैं। वही पुण्य आगे कभी निर्जरा करने में

सहायक हो जाता है। इसीलिए शास्त्र में नव प्रकार के पुण्य कहे गये हैं, जो दान द्वारा तथा मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्ति द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं, तथा पुण्योत्पादन का आदर्श रखने के लिए ही तीर्थंकर लोग दीक्षा लेने से पहले एक वर्ष तक सोनैयों का दान देते हैं।

तीर्थंकर लोग सोनैयों का जो दान देते हैं, वह दान साधु तो लेते ही नहीं हैं, असाधु ही लेते हैं। यदि तीर्थंकरों के उस दान से पुण्य का उत्पन्न होना न माना जावेगा, तो फिर तेरह-पन्थियों की मान्यता के अनुसार उस दान को पाप मानना होगा। क्योंकि तेरह-पन्थियों की ये मान्यताएँ हम ऊपर बता चुके हैं कि—

(१) अव्रती को दान देना पाप है।

(२) पुण्य से अनेरी (दूसरी) प्रकृति पाप की है।

इन मान्यताओं के अनुसार तीर्थंकरों द्वारा दिया गया दान पाप ठहरता है। लेकिन तेरह-पन्थियों का यह साहस भी नहीं होता कि तीर्थंकरों द्वारा दिये गये दान को वे पाप कह डालें। इसलिए वे यह कहते हैं कि 'यह तो तीर्थंकरों की रीति है'। दूसरी बात यह कहते हैं कि तीर्थंकर जो सोनैया दान देते हैं, वे सोनैया देवताओं के लाये हुए होते हैं। बहुत ठीक, परन्तु देवों के दिये हुए सोनैया या अन्य चीजों का दान करने से पाप तो नहीं होता न? तब तो पुण्य ही होगा? क्योंकि जहाँ पुण्य

नहीं, वहाँ पाप मानते हो; तो जहाँ पाप नहीं, वहाँ पुण्य का होना क्यों न मानोगे ? यदि किसी आदमी को, देवों का, राजा का या बाप-दादा का या जमीन में गड़ा या पड़ा हुआ, बहुतसा धन मिला और उसने लंगड़ों, लूलों, भिखारियों को बाँट दिया, अथवा अनाथाश्रम, अपंगाश्रम या पांजरापोल को दे दिया, तो आपकी दृष्टि में उस आदमी का यह दान पाप में रहा या पुण्य में ?

यदि तेरहपन्थी लोग ऐसे दान को पुण्य में मानें, तब तो फिर उन्हें साधु के सिवाय अन्य लोगों को दिये गये दान में पुण्य मानना ही पड़ेगा; परन्तु तेरहपन्थी लोग, इस तरह के दान को पुण्य नहीं मानते, अपितु पाप मानते हैं। तब तीर्थंकरों द्वारा दिया गया दान, पाप क्यों नहीं रहा ? उसको पाप कहने में संकोच क्यों होता है।

तेरह-पन्थी लोग कहते हैं कि तीर्थंकरों की दान देने की रीति है, इससे वे दान देते हैं। अतः उसमें पुण्य भी नहीं है और पाप भी नहीं है। इसी प्रकार राजा श्रेणिक ने अपने राज्य में किसी जीव को न मारने की घोषणा कराई थी, उसके लिए भीकहते हैं—

श्रेणिक राजा पटहो फिरावियो यह तो जाणो हो मोटा राजाँ री रीत। भगवन्त न सराह्यो तेहने तो किम आवे हो तिणरी परतीत।

('अनुकम्पा' ढाल ७ वीं)

अर्थात्—श्रेणिक राजा ने जो अमारी घोषणा (जीव न मारने विषयक) कराई थी, वह तो बड़े राजाओं की रीति है। भगवान ने इस कार्य की सराहना नहीं की, तब उस कार्य को धर्म कैसे जाना जावे ?

इस तरह तीर्थंकरों द्वारा दिये गये दान को और श्रेणिक राजा की जीव न मारने विषयक घोषणा को 'रीति' कह कर एक ओर निकाल देते हैं। ये काम 'रीति' से होते हैं, इसलिए इनमें न धर्म मानते हैं, न पुण्य मानते हैं और पाप भी कहने की हिम्मत नहीं करते। परन्तु यदि 'रीति' होने से ही तीर्थंकरों द्वारा दिया गया दान, तथा श्रेणिक राजा द्वारा कराई गई घोषणा, धर्म, पुण्य या पाप तीनों में से किसी में नहीं है, तो फिर श्रावक का जिमाना, या विवाहोपलक्ष्य में भात, बरोठो (भात लड़की वाले की ओर से दीगई रसोई का नाम है और बरोठी लड़के वाले की ओर से दीगई रसोई का नाम है) आदि में एकान्त पाप कैसे हो सकता है ? क्योंकि ये काम भी तो 'रीति' के अनुसार ही किये जाते हैं। रीति के अनुसार दिया गया तीर्थंकर द्वारा दान और राजा श्रेणिक की घोषणा यदि पाप के अन्दर नहीं है, तो रीति के अनुसार कराये गये ज्ञाति भोजन, सम्बन्धी भोजन या सहधर्मी भोजन, पाप क्यों हैं ? और यदि 'रीति' के कारण किये जाने पर भी इन कामों में पाप होता है, तो तीर्थंकरों द्वारा दिया गया

दान और राजा श्रेणिक द्वारा कराई गई घोषणा पाप क्यों नहीं हैं ? भात, बरोठी, सगे-सम्बन्धी तथा श्रावक को जिमाने के सम्बन्ध में तो तेरह-पन्थी कहते हैं—

छः काया जीवाँ ने जीव सू मारी ने सगा सयण न्यात जिमावेजो । यह प्रत्यक्ष छे सावद्य संसार नो कामों तिण में धर्म वतावेजो ।

('अनुकम्पा' ढाल ६ वीं)

अर्थात्—छः काय के जीवों को जान से मारकर सम्बन्धी, मित्र और न्यात को जिमाना प्रत्यक्ष ही पापपूर्ण और संसारवृद्धि का काम है, लेकिन कुगुरु लोग इस काम में भी धर्म बताते हैं ।

श्रावक ने मां हो माँ ही छः काय खवावे, छः काय मारी ने जिमावे । यह जीव हिंसा रो राह खोटो, तिण मां ही धर्म अनार्य वतावे ॥ ९ ॥

('अनुकम्पा' ढाल १२ वीं)

खर्च आधरणी ने भात वरोठी, अनेक आरम्भ कर न्यात जिमावे । ये सव संसार तणा कर्तव्य छे, तिण मां ही मूरख धर्म वतावे ॥ १० ॥

('अनुकम्पा' ढाल १२ वीं)

अर्थात्—श्रावक परस्पर छः काय के जीव खिलाते हैं, और

छः काय के जीवों को मारकर जिमाते हैं। यह जीव-हिंसा का मार्ग ही बुरा है, लेकिन अनार्य लोग इसमें भी धर्म बताते हैं॥ १ ॥

रुपया खर्च कर अनेक आरम्भ करके अघरणी (गर्भवती का आठवें या सातवें मास का उत्सव) भात, बरोठी आदि न्याति वाले को जिमाते हैं। ये सब संसार बढ़ाने के काम हैं (यानी पाप हैं,) लेकिन मूर्ख लोग इनमें धर्म बताते हैं।

इस तरह सम्बन्धी, स्नेही, स्वधर्मी (श्रावक) और न्याति को जिमाना तो 'रीति' के अनुसार होने पर भी तेरह-पन्थी लोग पाप कहते हैं, फिर तीर्थङ्करों द्वारा दिये गये दान को और श्रेणिक की जीव हत्या न करने की घोषणा को पाप क्यों नहीं कहते ? जब ये सभी काम रीति के अनुसार हैं, तब एक पाप हो, और दूसरा पाप नहीं, इसका क्या अर्थ ? यह तो स्पष्ट ही जनता को धोखे में डालना है।

साधुओं के सिवा अन्य लोगों को दिया गया दान, तथा मित्र, स्नेही, सम्बन्धी, ज्ञाति आदि को भोजन कराना एकान्त पाप नहीं है, यह हम अगले प्रकरण में बतावेंगे। यहाँ तो केवल इतना ही बताना इष्ट है कि तेरह-पन्थी लोग, अनुकम्पा दान के दुश्मन बनकर किस तरह लोगों को चक्कर में डालते हैं, और किस तरह कहीं कुछ तथा कहीं कुछ मानते हैं।
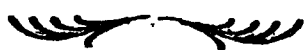
दान करना पाप नहीं है

यद्यपि दया और दान जैन धर्म के प्राण हैं। किसी भी मरते हुए जीव को बचाना और किसी नंगे भूखे या कष्ट पाते हुए का कष्ट मिटाना न तो पाप है, और न इन तेरह-पन्थियों के सिवा कोई पाप मानता ही है, इस लिए इनको सिद्ध करने हेतु कोई भी प्रयत्न करना सूर्य को दीपक बताने के प्रयत्न के समान व्यर्थ है। फिर भी तेरह-पन्थी साधु अपनी कुयुक्तियों से भोले लोगों के हृदय में यह ठसाने का प्रयत्न करते हैं कि किसी मरते हुए जीव को बचाना, अथवा साधुओं के सिवा अन्य किसी को कुछ देना, पाप है। लेकिन उनका यह कथन शास्त्र के भी विरुद्ध है, और व्यवहार के भी विरुद्ध है।

साधु के सिवा अन्य लोगों को दान देना अथवा मित्र, सम्बन्धी, स्वधर्मी आदि को खिलाना-पिलाना पाप है, यह सिद्ध करने के लिए तेरह-पन्थी लोग आनन्द श्रावक का उदाहरण सामने रखते हैं, कि देखो आनन्द श्रावक ने भगवान महावीर के सामने यह प्रतिज्ञा की थी, कि मैं श्रमण व निग्रन्थ के सिवाय और

किसी को आहार पानी न दूँगा, न उनका स्वागत सत्कार ही करूँगा आदि। ऐसा उदाहरण देकर तेरह-पन्थी लोग इस पर से यह दलील करते हैं, कि यदि साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना तथा खिलाना-पिलाना या स्वागत सत्कार करना पाप न होता, तो आनन्द श्रावक ऐसा अभिग्रह क्यों लेता? और भगवान महावीर ऐसा अभिग्रह क्यों कराते? आदि।

इस तरह आनन्द श्रावक के अभिग्रह के नाम से साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना पाप बताते हैं। यद्यपि आनन्द श्रावक ने जो अभिग्रह लिया था, वह अन्य युथिक साधुओं को गुरु बुद्धि से दान देने के विषय में ही लिया था, ऐसा तेरह-पन्थियों के सिवाय वे सभी जैन मानते हैं—जो उपासक दशांग सूत्र को मानने वाले हैं, परन्तु यह बात तेरह-पन्थियों को स्वीकार नहीं है। वे इस सम्बन्ध में बहुतसी दलीलें करते हैं, और कहते हैं कि आनन्द श्रावक का अभिग्रह साधु के सिवाय सब के लिए था।

हम इन दलीलों में अभी न पड़ कर, आनन्द श्रावक के चरित्र से ही यह सिद्ध करते हैं कि साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना या मित्र, ज्ञाति, कुटुम्बी, स्वजन, सम्बन्धी आदि को खिलाना-पिलाना या देना लेना पाप नहीं है। हम जो कुछ कहेंगे, उससे यह भी स्पष्ट हो जावेगा कि वास्तव में आनन्द

श्रावक ने जो अभिग्रह किया था, वह सब लोगों के लिए नहीं था, किन्तु केवल अन्य युथिक साधुओं को दान देने आदि के विषय में ही था और वह भी केवल गुरु बुद्धि से।

आप आनन्द श्रावक के चरित्र को देखिये। " किसी समय आधी रात के पश्चात् धर्म जागरणा करते हुए आनन्द श्रावक ने इस प्रकार का अध्यवसाय (विचार) और मनोगत संकल्प किया कि मैं इस वाणिज्य ग्राम नगर के बहुत से राज्याधिकारी एवं समस्त कुटुम्ब के लिए आधार भूत हूँ, इस कारण उनके कामों में पड़ने से मैं, भगवान महावीर के पास से जो धर्म स्वीकार किया है, उस धर्म को पूरी तरह पालने में समर्थ नहीं हूँ। इस लिए मैं कल सूर्योदय होने पर बहुतसा असन पान खाद्य और स्वाद्य (भोजन, पेय, उपभोजन और स्वाद्य) निपजाकर मेरे मित्र ज्ञाति आदि को जिमा कर तथा मित्र ज्ञाति और बड़े पुत्र की सम्मति लेकर, कोल्लाक सन्निवेश की पौषधशाला में भगवान महावीर से स्वीकृत धर्म का पालन करता हुआ विचरूँगा। इस तरह निश्चय करके आनन्द श्रावक ने सूर्योदय होने पर बहुतसी खाने-पीने आदि की सामग्री बनवाई, और मित्र ज्ञाति तथा नगर के लोगों को बुलाकर उनको खिलाया-पिलाया, तथा पुष्प-वस्त्र आदि से उन सब का सत्कार सम्मान किया। फिर उन सब के सामने अपने बड़े पुत्र को बुलाकर उससे कहा, कि हे पुत्र! जिस प्रकार

मैं वाणिज्य ग्राम में बहुतों के लिए, राजादि के लिए तथा कुटुम्ब के लिए आधार होकर रहता था, उसी तरह तुम भी सब के लिए आधार होकर रहना।"

आनन्द श्रावक के लिए जो पाठ ऊपर दिया गया है, उसको सूत्र में-पूर्ण सेठ का उदाहरण देकर संक्षिप्त कर दिया है। इस पाठ से स्पष्ट है कि आनन्द श्रावक ने धर्म जागरण करते हुए खान-पानादि की सामग्री बनवा कर ज्ञाति के लोग और मित्रादि को भोजन कराने का संकल्प किया था। उस संकल्प के अनुसार आनन्द श्रावक ने सवेरे बहुतसी खान-पान आदि की सामग्री बनवाई, तथा मित्र ज्ञाति और नगर के लोगों को भोजन कराकर उनको पुष्प-वस्त्रादि अर्पण कर उनका सत्कार सम्मान भी किया।

अभिग्रह के पाठ से इस पाठ का मिलान करने से स्पष्ट है कि आनन्द श्रावक का अभिग्रह साधु के सिवाय सबके लिए नहीं था, किन्तु केवल अन्य तीर्थी साधुओं के लिए ही था, और वह भी गुरु बुद्धि पूर्वक दान देने तथा सत्कार सम्मान करने के लिए। यदि आनन्द का अभिग्रह सभी के लिए होता, तो आनन्द मित्र, ज्ञाति और नगर के लोगों के लिए भोजनादि बनवा कर उनको जिमाता क्यों, उनका सत्कार सम्मान क्यों करता, तथा उन्हें वस्त्र-पुष्पादि क्यों देता?

आनन्द श्रावक का यह कार्य उसके द्वारा रखे गये किसी आगार के अन्तर्गत भी नहीं आता है। क्योंकि उसने सब को भोजन कराने आदि विषयक जो निश्चय किया था, वह अपने मन से ही किया था, ऐसा शास्त्र का स्पष्ट पाठ है। उसमें राजा गण, बलवान, गुरुजन आदि किसी ने भी यह नहीं कहा था कि तुम सब को भोजन कराओ या वस्त्रादि दो।

आनन्द श्रावक ने अपने इस कार्य के लिए कोई प्रायश्चित भी नहीं लिया था। और तो क्या, उसने सबको खिलाने का जो निश्चय किया था, वह भी धर्म जागरणा करते हुए। यदि पुरजन आदि किसी को खिलाना अथवा किसी को कुछ देना पाप होता, तो आनन्द श्रावक ऐसा पाप क्यों करता? उसने यह कार्य भूल से किया हो, ऐसा भी नहीं है। क्योंकि शास्त्र का यह पाठ स्पष्ट है कि आनन्द श्रावक ने जो व्रत लिये थे, या जो प्रतिज्ञा की थी उनका अर्थ भी भगवान से समझ लिया था।

यदि तेरह-पन्थियों के कथनानुसार मित्र, ज्ञाति सम्बन्धी आदि को खिलाना-पिलाना या देना पाप होता तो आनन्द श्रावक के लिए ऐसा कोई कारण न था, जो वह ऐसा पाप करता क्योंकि आनन्द श्रावक ने यह कार्य विशेष निवृत्ति बढ़ाते समय श्रावकपने में किया था। इस प्रकार इस पाठ से सिद्ध है कि—

(१) आनन्द श्रावक ने जो अभिग्रह किया था, वह अन्य तीर्थी साधुओं को गुरु बुद्धि से देने के विषय में ही था। साधुओं के सिवाय और किसी को भोजन कराना या कुछ देना पाप है, इस दृष्टि से आनन्द का अभिग्रह नहीं था।

(२) मित्र, स्नेही, ज्ञाति तथा अन्य लोगों को खिलाना-पिलाना या वस्त्रादि देना पाप नहीं है। यदि पाप होता, तो आनन्द श्रावक यह पाप क्यों करता, जब कि वह विशेष निवृति करने जा रहा था। और अभिग्रह भंग करके करता तो विराधक माना जाता आलोचना भी करता, सो कुछ भी अधिकार उपासक-दशांग में नहीं है।

आनन्द श्रावक के लिए यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि आनन्द श्रावक सब के लिए आधार भूत था। आनन्द श्रावक के वर्णन में यह बात कई बार आई है कि आनन्द श्रावक सब के लिए आधार था और आनन्द श्रावक ने अपने लड़के से भी यही कहा था, कि तुम भी सबके लिए आधार होकर विचरना। कोई भी आदमी किसी के लिए तभी आधार हो सकता है, जब कि वह आधार बना हुआ व्यक्ति आधेय व्यक्ति के प्रति उदारता पूर्ण व्यवहार रखे, और आधेय व्यक्ति को समय २ पर कुछ देता भी रहे, उनका कष्ट भी मिटाता रहे। बिना ऐसा किये कोई भी व्यक्ति

किसी के लिए आधार कैसे माना जा सकता है? आनन्द में ये सभी बातें थीं, तभी तो वह सब के लिए आधार भूत था।

तेरह-पन्थी लोग इन सभी बातों को पाप मानते हैं। परन्तु यदि ये बातें पाप होती, तो आनन्द श्रावक इन सब बातों का भी त्याग कर देता। लेकिन आनन्द श्रावक जब तक संसार व्यवहार में रहा, तब तक सब के लिए आधार बना रहा, और संसार व्यवहार से निवृत्त होते समय उसने अपने लड़के को भी यही शिक्षा दी कि सब के लिए आधार बनकर रहना। इससे स्पष्ट है, कि आधार बनने के लिए, आनन्द में दूसरे की सहायता करना, दूसरे का दुःख मिटाना और दूसरे के प्रति उदारता पूर्ण व्यवहार रखना आदि जो बातें थीं, वे बातें पाप रूप नहीं थीं, किन्तु पुण्य रूप ही थीं।

तेरह-पन्थियों की मान्यतानुसार तो दाम लेकर असंयति का पोषण करना, पन्द्रह कर्मादानों में का एक कर्मादान है, यानी अनाचरणीय पाप है, और बिना दाम लिये भी असंयति का पोषण करना पाप है (जैसा कि हम पिछले कुपात्र सुपात्र के प्रकरण में तेरह-पन्थियों द्वारा शास्त्र के गल्त अर्थ करने के उदाहरणों में बता चुके हैं)। लेकिन यदि तेरह-पन्थियों का यह कथन सही होता, तो आनन्द श्रावक ऐसे पाप क्यों करता?

आनन्द श्रावक के विषय में एक बात यह भी ध्यान में रखने की है, कि आनन्द श्रावक ने मित्र ज्ञाति आदि को भोजन कराने

का जो निश्चय किया था, वह धर्म जागरणा करते हुए। यदि इस तरह का विचार पाप होता, तो शास्त्रकार यह लिखते कि धर्म जागरणा करते हुए उसको इस तरह का पाप पूर्ण विचार हुआ। उसके विचार को धर्म जागरणा के ही अन्तर्गत न मानते।

आनन्द श्रावक के चरित्र से तेरह-पन्थियों का यह कथन तो झूठ ही ठहरता है कि श्रावक, सम्बन्धी और न्याति गोति आदि को खिलाना पाप है। यदि तेरह-पन्थियों का कथन सही माना जावे, तो उसके साथ यह मानना होगा, कि आनन्द श्रावक ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ी थी। क्योंकि हम यह बता चुके हैं कि आनन्द श्रावक ने सब को खिलाने पिलाने आदि का जो निश्चय किया था, तथा सबको जो खिलाया पिलाया था, वह किसी भी आगार के अन्तर्गत नहीं आता है। और आनन्द श्रावक ने अपना कोई व्रत अभिग्रह तोड़ा हो, ऐसा शास्त्र में कोई पाठ भी नहीं है। इसलिए इस सम्बन्ध में तेरह-पन्थियों की कोई भी दलील सत्य नहीं ठहरती है।

साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना पाप नहीं है, यह सिद्ध करने के लिए हम एक दूसरा शास्त्रीय प्रमाण भी देते हैं। 'राय प्रसेणी' सूत्र में राजा प्रदेशी का वर्णन आया है। राजा प्रदेशी पहिले नास्तिक था। नास्तिक होने के कारण, वह किसी को दान दे, यह सम्भव नहीं है; बल्कि यही सम्भव है, कि वह दूसरे के

पास जो कुछ हो, वही छीन ले। परन्तु केशी श्रमण का उपदेश सुन कर उसने केशी स्वामी के सामने यह प्रतिज्ञा की कि—

अहं णं सेयंविया पामोक्खाइं सत्तग्गाम सहस्साइं चत्तारि भागे करिस्सामि। एगे भागे वल वाहणस्स दलइस्सामि, एगे भागे कोट्ठागारे दलइस्सामि, एगे भागे अन्तेउरस्स दलइस्सामि, एगेण भागेणं महइ महालिय कुडागार सालं करिस्सामि। तत्थणं वहु हिं पुरिसेहिं दिण्णभत्ति भत्तवेयणेहिं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेत्ता वहुणं समण माहण भिक्खुयाणं पंथि पहियाणय परिभोये माणे वहुहिं सीलवय, पच्चक्खाणं पोसहोववासेहिं जाव विहरिस्सामि।

अर्थात्—मैं श्वेताम्बिका नगरी प्रभृति सात हजार ग्रामों को (यानी मेरे राज्य को) चार भागों में बाँटकर एक भाग बल वाहन (फौज वग़ैरा) के लिए दूँगा, एक भाग खजाने के लिए दूँगा, एक भाग अन्तःपुर के लिए दूँगा और एक भाग से एक बहुत बड़ी दानशाला बनवा कर, उसमें बहुतसे नौकर रखकर, बहुतसा अशन पान खाद्य स्वाद्य (खाने पीने के पदार्थ) बनवा कर श्रमण (साधु), माहन (ब्राह्मण या श्रावक), भिक्षुक और मार्ग चलते

हुए लोगों को खिलाता पिलाता हुआ, शील व्रत प्रत्याख्यान पौषधोपवास करता हुआ विचरूँगा।

इस शास्त्र पाठ से भी सिद्ध है कि साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना एकान्त पाप नहीं है। इसी प्रकार साधुओं के लिए भी दीन-दुःखी भिक्षुक आदि को दान देने के लिए उपदेश देना, पाप नहीं है। यदि साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना, या देने का उपदेश देना एकान्त पाप होता, तो केशी श्रमण राजा प्रदेशी को दान देने के लिए उपदेश ही कैसे देते और राजा प्रदेशी, श्रावक बनने के पश्चात् सब को दान देने के लिए दानशाला बनवाने की केशी स्वामी के सामने प्रतिज्ञा ही क्यों करता? यह बात तो थोड़ी बुद्धि वाला भी समझ सकता है कि जो प्रदेशी राजा नास्तिक था, दान-पुण्य, आत्मा-परमात्मा या साधु भिक्षुक आदि किसी को मानता ही न था, उसको यदि केशी श्रमण ने दान देने का निषेध कर दिया होता, तो वह दानशाला विषयक योजना कैसे बनाता, तथा वह योजना केशी श्रमण को क्यों सुनाता? इससे स्पष्ट है, कि—

(१) दीन-दुःखी भिखारी आदि को दान देना एकान्त पाप नहीं है।

(२) साधु का इस विषयक उपदेश देना भी एकान्त पाप नहीं है, किन्तु इस विषय परत्वे निषेध करना ही पाप है।

यहाँ पर तेरह-पन्थी लोग एक दलील देते हैं। उस दलील का उत्तर देना भी आवश्यक है। तेरह-पन्थी लोग कहते हैं कि राजा प्रदेशी की दानशाला खोलने विषयक प्रतिज्ञा सुनकर भी केशी श्रमण मौन ही रहे। केशी श्रमण कुछ बोले नहीं, मौन रहे, इस लिए राजा प्रदेशी का दानशाला खोलना पाप है। क्या ही मजेदार दलील है? इस दलील के अनुसार जिस बात को सुनकर साधु चुप रहे, वह बात पाप में ही मानी जावेगी। परन्तु राजा प्रदेशी ने दानशाला की बात कहते हुए यह भी कहा था कि 'मैं शील प्रत्याख्यान और पौषध उपवास करता हुआ विचरूँगा'। राजा प्रदेशी के इस कथन को सुनकर भी केशी मुनि कुछ नहीं बोले थे। इस लिए क्या शील प्रत्याख्यान और पौषध उपवास भी पाप है? केशी मुनि के न बोलने पर भी यदि शील प्रत्याख्यान और पौषध उपवास पाप नहीं हैं, तो दानशाला खुलवाना तथा दान देना ही पाप क्यों हो जावेगा? और यदि साधु के सिवाय अन्य लोगों को देना पाप था, तो केशी श्रमण ने राजा प्रदेशी के दानशाला खोलने विषयक विचार की निन्दा क्यों नहीं की थी? यदि यह कहा जावे कि दानशाला खोलने विषयक विचार की निन्दा करने से बहुत से लोगों को अन्तराय लगती, तो तेरह-पन्थियों का यह कथन, उन्हीं के कथन के विरुद्ध होगा। तेरह-पन्थी लोग 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ५१-५२ में स्पष्ट कहते हैं, कि—

'वर्तमान काले देतो लेतो देखी पाप कह्याँ अन्तराय लागे। अने उपदेश में हुवे जिसा फल वतायां अन्तराय लागे नहीं। अनेक ठामे असंयती ने दान देवे तेहना कडुआ फल उपदेश में श्री तीर्थङ्कर देवे कह्या छे। ते भणी उपदेश में पाप कह्याँ अन्तराय लागे नहीं। उपदेश में छे जिसा फल वतायां अन्तराय लागे तो मिथ्या दृष्टि रो सम्यग्दृष्टि किम हुवे। धर्म अधर्म री ओलखना किम आवे, ओलखणा तो साधु री वताईज आवे छे।'

अर्थात्—वर्तमान काल में देता लेता देख कर पाप कहने से अन्तराय लगती है, परन्तु उपदेश में जैसा फल हो वैसा फल बताने से अन्तराय नहीं लगती। उपदेश में तो तीर्थङ्करों ने अनेक जगह असंयति को दान देने का कटु फल कहा है। इसलिए 'असंयति को दान देना पाप है', ऐसा उपदेश में कहने से अन्तराय नहीं लगती। यदि उपदेश में असंयति को दान देने का कटु फल बताने से अन्तराय लगती हो, तो मिथ्या-दृष्टि व्यक्ति सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? धर्म अधर्म की पहचान कैसे हो सकती है? धर्म अधर्म की पहचान तो साधु के बताने से ही जानी जाती है।

तेरह-पन्थियों के इस कथनानुसार राजा प्रदेशी के दानशाला खोलने विषयक विचार को पाप बताने में केशी श्रमण को किसी

भी तरह की बाधा नहीं आती थी। क्योंकि केशी श्रमण के सामने राजा प्रदेशी, किसी को कुछ दे नहीं रहा था, इसलिए केशी श्रमण उपदेश में राजा प्रदेशी को यह कह सकते थे, कि—'तेरा दानशाला खोलकर सबको दान देने का विचार पापपूर्ण है।'

यदि साधुओं के सिवाय अन्य लोगों को दान देना पाप है, और फिर भी केशी श्रमण ने इस पाप-कार्य की पहचान राजा प्रदेशी को नहीं कराई, इस पाप का फल राजा प्रदेशी को नहीं बताया, तो उस दशा में केशी श्रमण अपने कर्तव्य से पतित माने जावेंगे। क्योंकि तेरह-पन्थी स्वयं कहते हैं कि—'यदि उपदेश में असंयति को दान देने का कटु फल बताने से अन्तराय लगती हो, तो मिथ्या दृष्टि व्यक्ति सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? और धर्म अधर्म की पहिचान कैसे हो सकती है? धर्म अधर्म की पहचान तो साधु के बताने से ही जानी जाती है।' इसके अनुसार केशी श्रमण का कर्तव्य था कि राजा प्रदेशी दानशाला खोलकर सबको दान देने का मिथ्यात्व और पाप पूर्ण जो कार्य करना चाहता था और अन्ततः शास्त्र के पाठानुसार जिस कार्य को राजा प्रदेशी ने शीघ्र कर ही डाला—दानशाला खुलवाई ही—उस कार्य से राजा प्रदेशी को रोकते, उस कार्य का कटु फल बताते, तथा राजा प्रदेशी को धर्म अधर्म की पहचान कराते।

केशी श्रमण ने यह सब नहीं किया, इसलिए तेरह-पन्थियों की दृष्टि में केशी श्रमण, कर्तव्य से भ्रष्ट हुए। लेकिन केशी श्रमण कर्तव्य भ्रष्ट थे, ऐसा तेरह-पन्थी भी कहते या मानते नहीं हैं। ऐसी दशा में तेरह-पन्थियों की यह दलील कोई कीमत नहीं रखती, कि राजा प्रदेशी का दानशाला विषयक कथन सुनकर केशी श्रमण कुछ नहीं बोले थे, और इसलिए राजा प्रदेशी का दानशाला खोलना पाप था।

केशी श्रमण के न बोलने से, और केशी श्रमण ने दानशाला विषयक राजा प्रदेशी के विचार की सराहना नहीं की थी, इससे यदि राजा प्रदेशी का दानशाला खोलना पाप है, तो आनन्द श्रावक का व्रत अभिग्रह आदि स्वीकार करना भी पाप हो जावेगा। क्योंकि आनन्द श्रावक ने अन्य यूथिक साधुओं को दान सम्मान आदि न देने तथा श्रमण निग्रन्थ को भोजन पानी आदि देने विषयक जो अभिग्रह भगवान महावीर के सामने किया था, उस अभिग्रह के करने पर भी भगवान महावीर कुछ नहीं बोले थे।

भगवान महावीर ने आनन्द श्रावक के अभिग्रह की सराहना नहीं की थी। इसलिए तेरह-पन्थी लोग जिस तरह आनन्द श्रावक के अभिग्रह का अर्थ साधु के सिवाय अन्य सभी को न देना करते हैं, उसी तरह साधुओं को देना भी पाप ठहरेगा क्योंकि भगवान ने दोनों ही की सराहना नहीं की थी। इसलिए तेरह-

पन्थी लोग ऐसा मानते नहीं हैं। अतः केशी श्रमण ने राजा प्रदेशी के दानशाला विषयक विचार का समर्थन नहीं किया था, इसलिए राजा प्रदेशी का वह कार्य पाप ही था, ऐसी तेरह-पन्थियों की दलील लोगों को केवल भ्रम में डालने के लिए ही है। अपना उद्देश्य पूरा करने के वास्ते, व्यर्थ की दलील है। इसमें तथ्य बिल्कुल नहीं है।

सारांश यह कि साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना पाप नहीं है। यह बात तीर्थङ्करों का दान देना भी सिद्ध करता है, और ऊपर शास्त्र के जो दो प्रमाण दिये गये हैं, उनसे भी सिद्ध है।

तेरह-पन्थियों की एक दलील और है। वे अपनी 'अनुकम्पा' की बारहवीं ढाल में कहते हैं कि यदि सोनैया, धन-धान्य आदि असंयति लोगों को देने में, तथा मरते हुए असंयति जीवों को बचाने में धर्म होता, तो भगवान महावीर की प्रथम वाणी निष्फल क्यों जाती? देवता लोग लोगों को सोनैया, धन-धान्य, रत्न आदि देकर, तथा समुद्र में मरती हुई मछलियों को बचाकर भगवान महावीर की वाणी सफल करते। इस सारी ढाल में उन्होंने देवताओं का ही उदाहरण लिया है। उनका थोड़ासा कथन उदाहरण के तौर पर यहाँ दिया जाता है—

जो जीव बचाया धर्म हुए, ओ तो देवता रे आसानजी।
अनन्त जीव बचाय ने वाणी सफल करता देव आनजी।
असंयति जीव बचावियाँ वले असंयति ने दिया दानजी।
इम करता वीर वाणी सफली हुए ओ तो देवता रे आसानजी।

अर्थात्—यदि जीव बचाने में धर्म होता, तो यह कार्य तो देवताओं के लिए सरल था। देवता अनन्त जीवों को बचाकर भगवान महावीर की वाणी सफल कर देते। असंयति जीव को बचाने और असंयति जीव को दान देने से यदि भगवान महावीर की वाणी सफल हो सकती, तो ये कार्य देवताओं के लिए आसान थे। देवता, इन कामों को करके धर्म के आचरण द्वारा भगवान महावीर की वाणी सफल कर सकते थे।

परन्तु उन लोगों को यह मालूम नहीं है कि भगवान महावीर की प्रथम वाणी खाली क्यों गई? भगवान महावीर को जिस समय केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ, वह सन्ध्या का समय था, और जंगल था। भगवान ने केवल ज्ञान होते ही वाणी फरमाई—उस समय मनुष्य मनुष्यणी और तिर्यंच तिर्यंचणी नहीं थे। इसलिए जैसा कि भगवान ने धर्म के दो भेद करके आगार और अणगार धर्म का प्रतिपादन किया, उस त्याग प्रत्याख्यान रूप चारित्र धर्म को किसी ने अंगीकार नहीं किया था, इस अपेक्षा से

वाणी खाली गई मानी है, न कि दान पुण्य या जीव-रक्षा की अपेक्षा से। इस पर से प्राणी-रक्षा या दान देना निषिद्ध नहीं हो सकता। यह उदाहरण दया दान उठाने की कुयुक्ति रूप है।

यदि जो काम देवता नहीं करते, मनुष्यों के लिए भी वह काम करना निषिद्ध है, पाप है, तो देवता लोग साधुओं को आहार पानी, वस्त्र पात्र आदि भी नहीं देते हैं। इसलिए मनुष्य के लिए भी साधु को आहार-पानी आदि देना निषिद्ध और पाप होगा। और यदि साधु को देवता लोग आहार-पानी नहीं देते, तब भी मनुष्य के लिए साधु को आहार-पानी आदि देना पाप नहीं है, अपितु लाभप्रद ही है; तो किसी मरते हुए जीव को बचाना तथा दीन दुःखी आदि को दान देना भी पाप कैसे हो सकता है? जैन सिद्धान्त दीन दुःखी जीवों को दान देकर उनकी सहायता करने के वर्णन से भरे पड़े हैं। अनेकों उदाहरण विद्यमान है।

जीव बचाना पाप नहीं है

दान की ही तरह जीवों को बचाना पाप नहीं है, यह सिद्ध करने का प्रयत्न भी सूर्य को दीपक से सिद्ध करने के प्रयत्न करने के समान है। क्योंकि जैन शासन का प्रादुर्भाव मरते हुए जीवों को बचाने के लिए ही है, यह बात प्रसिद्ध है। शास्त्र भी इसी बात समर्थन करते हैं। 'श्री प्रश्न व्याकरण सूत्र' में कहा है कि—

सव्व जग जीव रक्खण दयट्टयाए पावयणं भगवया सुकहियं।

अर्थात्—समस्त जगत के जीवों की रक्षा और दया के लिए ही भगवान ने प्रवचन कहा है।

तेरह पन्थी लोग इस शास्त्र पाठ के विषय में यह कहते हैं कि दया और रक्षा का अर्थ यही है कि किसी जीव को न मारना, लेकिन किसी मरते हुए जीव को बचा देना दया या अनुकम्पा नहीं है। यद्यपि तेरह-पन्थियों का यह अर्थ गलत है, थोड़ीसी भी

समझ वाला आदमी जानता है, कि बचाने का नाम रक्षा है, व्यवहार में भी रक्षा शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है, और टीका में भी रक्षा का अर्थ बचाना ही कहा गया है, फिर भी तेरह-पन्थी लोग यह कह कर लोगों को भ्रम में डाल देते हैं, कि किसी को न मारना, यही दया या रक्षा है। किसी मरते हुए को बचाना दया या रक्षा नहीं है। उनका यह कथन केवल लोगों को भुलावे में डालकर अपने मत का प्रचार करने के लिए ही है।

जैन शास्त्र और जैन शासन प्रधानतः मरते हुए जीवों की रक्षा के लिए ही है। इस बात को अंग्रेज विद्वान् भी मानते हैं। इतिहासज्ञों का भी कथन है, कि जैन धर्म संसार में दुःख पाते हुए तथा मारे जाते हुए जीवों को त्राण देने के लिए ही है। बुद्धि से भी विचारा जा सकता है, यदि जैन धर्म किसी मरते हुए प्राणी को बचाने में पाप मानता होता, तो यह अपने समकालीन प्रतिस्पर्द्धी बौद्ध धर्म के सामने टिकता ही कैसे।

इन सब बातों के सिवाय, शास्त्रों में मरते हुए जीव को बचाने के लिए आदर्श रूप में अनेक उदाहरण भी पाये जाते हैं। जैसे— भगवान अरिष्ट नेमि ने मारे जाने के लिए बन्द किये हुए बाड़े (पींजरे) में से पशुओं को छुड़ाया था, यह बात हम पहले कह आये हैं। भगवान पार्श्वनाथ ने भी आग में जलते हुए नाग को बचाया था और भगवान महावीर ने भी यज्ञ में होने वाली पशु-हिंसा का

ज़बरदस्त विरोध करके उन जीवों का रक्षण कराया था। इसके सिवाय भगवान महावीर ने तेजो लेश्या से जलते हुए गोशालक को बचाया था, इसका शास्त्र में स्पष्ट उल्लेख है। इस प्रकार तीन उदाहरण तो तीर्थङ्करों के ही हैं, जिनसे यह सिद्ध है कि मरते हुए जीव को बचाना पाप नहीं है, अपितु जैन धर्म का मुख्य सिद्धान्त है। यदि मरते हुए जीव को बचाना पाप होता तो तीर्थङ्कर भगवान स्वयं यह पाप क्यों करते ?

तेरह-पन्थी लोग शास्त्र के इन तीनों प्रमाणों के लिए भी कुछ न कुछ दलील देकर लोगों को भुलावे में डालते ही हैं। भगवान अरिष्ट नेमि के लिए कहते हैं, कि उन जीवों की हिंसा भगवान अरिष्ट नेमि के निमित्त से हो रही थी, इसीसे भगवान अरिष्ट नेमि ने उन जीवों की हिंसा का पाप अपने लिए माना और उस पाप को टाला। भगवान महावीर के लिए कहते हैं कि गोशालक को बचा कर भगवान महावीर ने भूल की। तेरह-पन्थियों ने भगवान अरिष्ट नेमि और भगवान महावीर के जीव-रक्षा विषयक आदर्शों को मिटाने के लिए अपने ग्रन्थ 'भ्रम विध्वंसन' में कई पृष्ट के पृष्ट लिखे हैं, और अनुकम्पा की ढालों में दो तीन पूरी ढालें इसी विषय को लेकर की हैं कि भगवान महावीर ने गोशालक को बचाकर भयंकर भूल की थी। इसी प्रकार भगवान पार्श्वनाथ के लिए भी कहते हैं कि—

नाग नागिनी हुंता बलता लकड़ा में,
त्यांने पार्श्वनाथजी काढ्या कहे वारे ।
अग्नि में बलतां ने राख्या जीवता,
पाणी अग्नि आदिक जीवां ने मारे ।
ओ उपकार संसार रो ।

('अनुकम्पा' ढाल ११ वीं)

अर्थात्—पार्श्वनाथजी ने आग में जलते हुए नाग नागिन को बाहर निकाल कर उनको जीवित रखा, इस कार्य में भगवान पार्श्वनाथजी ने आग और पानी के जीवों की हिंसा की, इसलिए यह उपकार संसार का है, यानी पाप है ।*

इस तरह तीनों ही तीर्थङ्कर द्वारा स्थापित जीव-रक्षा विषयक आदर्श को तेरह-पन्थी पाप में मानते हैं । इस सम्बन्ध में तेरह-पन्थियों की दलीलें व्यर्थसी हैं । इस सम्बन्धी उनकी दलीलों का खण्डन करने में पड़ना, अपना समय नष्ट करना है । उनकी दलीलें, बुद्धि हीन और अपढ़ लोगों को चाहे भ्रम में डाल सकें, परन्तु बुद्धिमान लोग भ्रम में नहीं पड़ सकते । बुद्धिमानों के लिए

---

* यह बताया जा चुका है, कि तेरह पन्थी लोग 'संसार का उपकार' संसार में जन्म मरण कराने वाला 'पाप' मानते हैं ।

उनकी दलीलों का खण्डन करने के लिए एक ही दलील काफी है, जो हम नीचे लिखते हैं।

तीर्थङ्करों को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन ज्ञान जन्म से ही होते हैं। इसलिए इस काल के तेरह-पन्थी साधुओं की अपेक्षा उनका धार्मिक ज्ञान कम तो हो ही नहीं सकता। क्योंकि पूर्ण श्रुत ज्ञान चौदह पूर्व-धारियों को ही होता है, उन्हें ही सर्वाक्षर सन्निपाती कहते हैं। शेष सब श्रुत ज्ञान से अपूर्ण हैं। तेरह-पन्थी साधुओं में दो ज्ञान भी पूरे नहीं हैं। ऐसी दशा में भगवान तीर्थङ्करों द्वारा किये गये जीव रक्षा के कामों को पाप या भूल कहने की योग्यता तेरह-पन्थियों में कहाँ से आगई ?

तेरह-पन्थियों की इस अनधिकार चेष्टा से तो जाना जाता है, कि तेरह-पन्थियों में तीर्थङ्करों से भी ज्यादा ज्ञान होना चाहिए। परन्तु है श्रुतज्ञान को यथा तथ्य समझने की मति का दिवाला ! क्योंकि भगवान अरिष्ट नेमि की भूल उनके पीछे वाले कोई तीर्थङ्कर न जान सके, भगवान पार्श्वनाथ का पाप भगवान पार्श्वनाथ स्वयं अथवा भगवान महावीर न जान सके, और भगवान महावीर की गलती भगवान महावीर को अन्त तक दिखाई न दी, लेकिन तेरह-पन्थी साधु तीनों तीर्थङ्करों की भूल और उनके पाप को समझ

गये। इसलिए तेरह-पन्थी तीर्थङ्करों से भी ज्यादा ज्ञानी ठहरे! तीर्थङ्करों के भी गुरु ठहरे!

एक बात और है। भगवान अरिष्ट नेमि, भगवान पार्श्वनाथ या भगवान महावीर ने जो भूल की थी, उन्हें अपनी उस भूल को स्वीकार करके जनता को सावधान कर देना चाहिए था, कि मैंने यह भूल की है, लेकिन तुम कोई इस तरह की भूल मत करना। कम से कम उन श्रावकों को तो इस बात से परिचित कर ही देना चाहिए था, जिन श्रावकों ने भगवान तीर्थङ्कर के पास व्रत स्वीकार किये थे।

तेरह-पन्थी लोगों के इस कथनानुसार कि—"धर्म अधर्म की पहचान साधु ही कराते हैं, †" भगवान महावीर का यह कर्तव्य था, कि श्रावकों को अधर्म की पहचान कराने के लिए, श्रावकों को अतिचार बताने के साथ ही साथ यह भी कह देते कि—"किसी मरते हुए जीव को बचाना पाप है, अतः इस पाप से भी बचना" इसलिए तेरह-पन्थियों की मान्यतानुसार क्या भगवान महावीर को कर्तव्य से पतित मानना उचित होगा? यह बात तो किसी भी जैन को स्वीकार नहीं हो सकती। इसलिए इसी निश्चय पर पहुँचा

---

† देखो 'भ्रम विध्वंसन' पृष्ठ ५०–५१ जिसका उद्धरण हम पिछले प्रकरण में दे चुके हैं।

जाता है, कि तेरह-पन्थियों की इस विषयक दलीलें झूठी हैं, लोगों को भ्रम में डालने के लिए हैं, और इस तरह लोगों के हृदय में से करुणा निकालने के लिए हैं।

जीव को बचाना पाप नहीं है, किन्तु अनुकम्पा है; रक्षा है, यह बात 'ज्ञाता सूत्र में' मेघकुमार के अधिकार से भी सिद्ध है। 'ज्ञाता सूत्र में' कहा गया है कि भगवान महावीर ने मेघकुमार से स्पष्ट ही कहा था, कि—हे मेघकुमार! तूने हाथी के भव में प्राणभूत जीव सत्त्व की अनुकम्पा की थी, उस शशले की रक्षा के लिए तो बीस पहर तक पैर ऊँचा रखकर अपने शरीर का ही बलिदान कर दिया था, इसीसे समकित रत्न प्राप्त हुआ, संसार परिमित हुवा, मनुष्य जन्म, राजसी वैभव आदि प्राप्त हुवे और अन्त में तू संयम ले सका। यदि जीव-रक्षा में पाप होता, तो भगवान महावीर जीव-रक्षा का यह परिणाम क्यों बताते?

मेघकुमार के उदाहरण के लिए भी तेरह-पन्थी लोग एक व्यर्थ की दलील करते हैं। वे कहते हैं कि—मेघकुमार ने हाथी के भव में शसले को नहीं मारा था, इसीसे उसको मनुष्य जन्म आदि मिला, परन्तु हाथी के मण्डल में जो बहुत से जावों ने आकर आश्रय लिया था, उससे तो हाथी को पाप ही लगा। समझ में नहीं आता कि तेरह-पन्थी लोग यह दलील किस आधार पर खड़ी करते हैं। एक कवि ने कहा है—

अति रमणीये काव्ये पिशुनो दूषणमन्वेषयति ।
अति रमणीये वपुषि व्रणमिव मक्षिका निकरः ॥

अर्थात्—अच्छे रमणीय काव्य में भी धूर्त लोग उसी प्रकार दोष को खोजा करते हैं, जिस प्रकार बहुत रमणीय शरीर में भी मक्खी केवल घाव ही खोजा करती है।

इसके अनुसार सर्वज्ञों के प्रतिपादित करुणा से भरे हुए शास्त्रों में भी तेरह-पन्थी लोग केवल 'पाप ही पाप' खोजा करते हैं। ऐसा करने का कारण या तो उनका स्वभाव ही ऐसा है, अथवा उनकी अपने मत के प्रचार की स्वार्थ बुद्धि है। यदि ऐसा न होता, तो तेरह-पन्थी लोग दया और दान में पाप सिद्ध करने के लिए महा-पुरुषों द्वारा छोड़े गये आदर्शों को विकृत बनाने का प्रयत्न ही क्यों करते ?

यद्यपि तेरह-पन्थियों की मेघकुमार के चरित्र के विषय में दी जाने वाली दलील बिलकुल ही व्यर्थ है, फिर भी बेसमझ लोगों को भ्रम से बचाने के लिए हम उनकी दलील का संक्षिप्त उत्तर देते हैं।

शास्त्र में ऐसा कहीं नहीं आया है, कि हाथी ने एक शसले को नहीं मारा था, इसीसे उसको मनुष्य-जन्म आदि प्राप्त हुआ था। इसके लिये भगवान महावीर ने स्पष्ट ही कहा है कि—

प्राणाणुकम्पयाए भूयाणुकम्पयाए जीवाणुकम्पयाए सत्वाणुकम्पयाए ।

अर्थात्— प्राणी भूत जीव और सत्व की अनुकम्पा से तुझे सम्यक्त्व और मनुष्य जन्म आदि मिला ।

भगवान महावीर ने यह नहीं कहा, कि तेरे मण्डल में दूसरे जो जीव आकर रहे थे, उनके बचने से तुझे पाप हुआ। इसके सिवाय शास्त्र के पाठानुसार हाथी ने एक योजन का मण्डल बनाया था। उस एक योजन (चार कोस) के मण्डल में दावानल से बचने के लिए इतने जीव आकर घुस गये थे कि कहीं थोड़ी भी जगह शेष नहीं रही थी। इसीसे शशक इधर उधर मारा मारा फिरता था, उसको बैठने को जगह न मिली थी, और इतने ही में हाथी ने अपना पैर खाज खनने को उठाया, उस खाली जगह में शशक बैठ गया।

बुद्धि से विचारने की बात है कि हाथी के उस मण्डल में कितने जीव बचे होंगे? हाथी ने अपने मण्डल में उन असंख्य जीवों को आश्रय दिया, इस कारण तेरह-पन्थियों की मान्यतानुसार तो हाथी को कितना पाप लगना चाहिये। थोड़ी देर के लिये तेरह-पन्थियों का यह कथन मान भी लें कि एक शसले को न मारने से ही, हाथी को मेघकुमार का भव प्राप्त हुआ था, तो इसके साथ ही यह भी मानना होगा, कि हाथी के मण्डल में

जो असंख्य जीव बचे थे, उनके बच जाने से हाथी को जो पाप हुआ था उसका दुष्परिणाम स्वरूप क्या फल मिला? हाथी को पुण्य या धर्म तो हुआ एक शसले के न मारने का और पाप हुआ असंख्य जीवों के बचने का। इस प्रकार धर्म या पुण्य की अपेक्षा पाप ही अधिक हुआ। ऐसी दशा में हाथी को मेघकुमार का जन्म मिलने का क्या कारण था?

इसके सिवाय यदि और जीवों का बचना पाप होता, तो भगवान महावीर मेघकुमार से स्पष्ट कह देते कि तूने शसले को नहीं मारा यह तो तुझे धर्म या पुण्य हुआ, परन्तु अन्य जीवों को तूने अपने मण्डल में आश्रय दिया, इसका तुझे पाप हुआ, जिसका परिणाम तुझे इस प्रकार भोगना होगा। भगवान ने ऐसा न कह कर यह कहा, कि प्राणी भूत जीव सत्व की अनुकम्पा से तूने सम्यक्त्व प्राप्त किया, संसार परिमित किया यानी संसार का जन्म मरण घटाया। ऐसी दशा में तेरह-पन्थियों द्वारा इस विषयक की जाने वाली दलील बिलकुल व्यर्थ ही ठहरती है।

किसी मरते हुए जीव को बचाने में पाप सिद्ध करने के लिए तेरह-पन्थी लोग एक और दलील देते हैं। वे कहते हैं कि किसी मरते हुवे को बचाने, या किसी प्यासे को पानी पिलाने या किसी को कष्ट मुक्त करने में अग्नि पानी आदि के असंख्य स्थावर जीवों

की हिंसा होती है, इसलिए किसी मरते हुए को बचाना, पानी में डूबते हुए या आग में जलते हुए को निकालना या किसी प्यासे को पानी पिलाना पाप है। जैसाकि वे भगवान पार्श्वनाथ के विषय में कहते हैं, कि भगवान पार्श्वनाथ ने आग में जलते हुए नाग नागिनी को बचाने में आग पानी के जीवों की हिंसा की थी, इस लिए उनका यह कार्य पाप था।

इस प्रकार तेरह-पन्थी लोग, किसी की रक्षा में होने वाली स्थावर जीवों की हिंसा को आगे लेकर जीव-रक्षा को पाप बताते हैं। लेकिन यदि जीव बचाने में होने वाली इस तरह की हिंसा के कारण ही जीव को बचाना पाप हो जावेगा, तो फिर और भी बहुत से काम पाप में ठहरेंगे। इस मान्यता के अनुसार—जैसाकि हम पहिले बता चुके हैं, साधु का पलेवन करना भी पाप होगा, साधु का रजोहरण रखना भी पाप होगा, साधु का दर्शन करना भी पाप होगा और यहाँ तक की तीर्थङ्कर का दर्शन करना भी पाप ठहरेगा। क्योंकि इन सभी कामों में प्रारम्भ में एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती ही है, बल्कि कभी कभी त्रस जीवों की भी हिंसा हो जाती है।

चलने फिरने में एकेन्द्रिय तथा त्रस जीव की हिंसा होती है, इस बात को मानने से कोई इन्कार नहीं कर सकता। यदि इस तरह की हिंसा के कारण ही मरते हुए जीव को बचाना,

या दुःखी जीव को दुःख मुक्त करना पाप है, तो फिर साधु और तीर्थङ्कर का दर्शन करना भी पाप ठहरेगा। और यदि प्रारम्भिक हिंसा के होने पर भी साधु के लिए प्रतिलेखन करना, साधु के लिए रजोहरण का उपयोग करना, और साधु तथा तीर्थङ्कर का दर्शन करना पाप नहीं है, तो फिर प्रारम्भिक हिंसा के कारण किसी मरते हुए जीव को बचाना अथवा किसी कष्ट पाते हुए जीव को कष्ट मुक्त करना पाप क्यों हो जावेगा?

इन सब बातों पर विचार करने से स्पष्ट है कि किसी मरते हुए जीव को बचाना या किसी कष्ट पाते हुए जीव को कष्ट मुक्त करना पाप नहीं है। इन कामों को पाप बताने के लिए तेरह-पन्थी लोगों की समस्त दलीलें केवल उन लोगों को भ्रम में डालकर अपने मत में लाने के लिए हैं, जो लोग शास्त्र को पूरी तरह जानते नहीं हैं, अथवा तेरह-पन्थियों की दलीलों का उत्तर देने की जिनमें क्षमता नहीं है।

तेरह-पन्थी साधु कहते हैं, कि हम मारने वाले को पाप से बचाने के लिए उपदेश देते हैं, मरते हुए जीव को बचाने के लिए उपदेश नहीं देते। साधु का यही कर्तव्य है, कि वह मारने वाले को पाप से बचाने के लिए उपदेश दे, परन्तु मरने वाले की रक्षा के लिए उपदेश न दे। क्योंकि, मरने वाले की रक्षा करना पाप है।

यह तेरह-पन्थ का उक्त कथन बिल्कुल झूठ और शास्त्र विरुद्ध है, यह सिद्ध करने के लिए हम एक ही ऐसा प्रमाण देते हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जावेगा, कि साधु का कर्तव्य मारने वाले तथा मरने वाले दोनों ही के कल्याण के लिए उपदेश देना है। इसी प्रकार श्रावक का भी कर्तव्य है कि वह मरते और कष्ट पाते हुए जीव को बचाने और कष्ट मुक्त करने का प्रयत्न करे।

'राय प्रसेणी' सूत्र में राजा प्रदेशी का वर्णन आया है। सूत्रानुसार, राजा प्रदेशी नास्तिक था। वह 'आत्मा नहीं है' ऐसा मानता था। इस कारण वह अनेक द्विपद (मनुष्य पक्षी आदि), चौपद (पशु आदि), मृग पशु पक्षी और सरीसृप (साँप आदि बिना पाँव के जीव) को मार डालता था। ब्राह्मण भिक्षुक आदि की भीख भी छीन लेता था, तथा अपने समस्त राज्य को उसने बहुत दुःखी कर रखा था।

प्रदेशी राजा के चित्त नाम के प्रधान, ने जो बारह व्रतधारी श्रावक था। राजा प्रदेशी द्वारा होने वाले अत्याचारों से जनता को बचाने के लिए केशी स्वामी से कहा, कि हे देवानु प्रिय! आप यदि राजा प्रदेशी को धर्म सुनावें, तो प्रदेशी राजा को, तथा (उसके हाथ से मारे जाने वाले) बहुत से द्विपद, चौपद, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृप को बहुत गुणयुक्त फल (लाभ) होगा। हे देवानुप्रिय! आप यदि राजा प्रदेशी को धर्म

सुनावें, तो प्रदेशी राजा के साथ ही बहुत से श्रमण, माहण और भिक्षुकों को गुणयुक्त फल (लाभ) होगा; और इसी प्रकार हे देवानु प्रिय ! राजा प्रदेशी के साथ ही समस्त जनपद (सम्पूर्ण राज्य) को बहुत लाभ होगा।

केशी श्रमण से यह प्रार्थना उस चित्त प्रधान ने की थी, जो बारह व्रतधारी श्रावक था, और धर्म अधर्म को अच्छी तरह जानता था। चित्त प्रधान श्रावक था, यह बात 'राय प्रसेणी' सूत्र में स्पष्ट कही है, और 'राय प्रसेणी' सूत्र से यह भी स्पष्ट है, कि चित्त प्रधान की इस प्रार्थना को स्वीकार करके ही केशी स्वामी ने श्वेतम्बीका पधार कर राजा प्रदेशी को धर्म का उपदेश दिया था, तथा उसको श्रावक बनाया था। यदि मरते हुए जीव को बचाना अथवा कष्ट पाते हुए को कष्ट मुक्त करना कराना पाप होता, तो चित्त प्रधान, जो श्रावक था, इस तरह का पाप-कार्य करने-कराने के लिए केशी स्वामी से प्रार्थना ही क्यों करता, और केशी स्वामी चित्त प्रधान की यह प्रार्थना स्वीकार ही क्यों करते ?

शास्त्र के इस वर्णन से भी यह स्पष्ट है, कि मरते हुए जीव को बचाने तथा कष्ट पाते हुए जीव को कष्ट मुक्त करने के लिए उपदेश देना साधु का कर्तव्य है और इसी प्रकार श्रावक का भी यह कर्तव्य है, कि वह मरते हुए जीव को बचाने तथा कष्ट पाते हुए जीव को कष्ट मुक्त करने का प्रयत्न करे। यदि ऐसा न

होता, तो चित्त प्रधान केशी स्वामी से पशु-पक्षी, ब्राह्मण-भिखारी और देश आदि का लाभ होने की बात न तो केशी श्रमण से ही, कहता और न केशी श्रमण ही उसके कथन को स्वीकार करते।

शास्त्र में अभय-दान को सब से श्रेष्ठ दान कहा है। लेकिन तेरह-पन्थी लोग कहते हैं, कि किसी जीव को न मारना, यही अभय-दान है, किसी मरते हुए जीव को बचाना अभय-दान नहीं है। उनका यह कथन शास्त्र के भी विरुद्ध है और युक्ति के भी विरुद्ध है। देने का नाम दान है। न देने का नाम तो दान है ही नहीं। यदि बिना दिये ही दान हो सकता हो, तब तो साधु को आहार-पानी दिये बिना ही, केवल साधु को कष्ट न देने मात्र से ही सुपात्र दान भी हो जावेगा। परन्तु तेरह-पन्थी लोग सुपात्र-दान के लिए तो ऐसा मानते नहीं है, कि साधु को कष्ट न देने मात्र से ही सुपात्र-दान हो जाता है, और अभय-दान के लिए कहते हैं, कि किसी को भय न देने से ही अभय-दान हो जाता है।

यदि तेरह-पन्थियों का यह कथन ठीक हो, तब तो स्थावर जीव सब से अधिक अभय-दान देने वाले सिद्ध होंगे। क्योंकि पृथ्वी-कायिक, जल-कायिक और वनस्पति-कायिक जीव किसे भय देते हैं? इसलिए किसी जीव को भय न देने का नाम ही अभय-दान

नहीं है, किन्तु भय पाते हुए का भय मिटाने का नाम ही अभय दान है।

'सूयगडांग' सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन में 'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं' पाठ आया है। इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है, कि 'जो मांग रहा है, उसको अपने और माँगने वाले के अनुग्रह के लिए उसके द्वारा माँगी गई चीज देने का नाम दान है। ऐसा दान अनेक प्रकार का है, जिनमें अभय-दान सब से श्रेष्ठ है। क्योंकि अभय-दान, उन मरते हुवे प्राणियों के प्राण का दान करता है, कि जो प्राणी मरना नहीं चाहते हैं, किन्तु जीवित रहने की इच्छा रखते हैं। मरते हुए प्राणी को एक ओर करोड़ों का धन दिया जाने लगे और दूसरी ओर जीवन दिया जाने लगे, तो वह धन न लेकर जीवन ही लेता है। प्रत्येक जीव को जीवन सब से अधिक प्रिय है। इसी से अभय-दान सब में श्रेष्ठ है।'

व्यवहार में भी अभयदान का अर्थ भयभीत को भय रहित बनाना ही किया जाता है। कोष आदि में भी अभयदान का अर्थ यही है। ऐसी दशा में तेरह-पन्थियों का यह कथन सर्वथा असंगत है, कि भयभीत को भयमुक्त करना अभयदान नहीं है, किन्तु किसी को भय न देने का नाम अभय-दान है। थोड़ी बुद्धि वाला

व्यक्ति भी समझ सकता है कि न देने का नाम दान कैसे हो सकता है? देने का नाम ही दान है। 'अभय' देने को ही अभय-दान कहा जाता है, और अभय-दान का पात्र वही है, जो भय पा रहा है। सियाल यदि सिंह को नहीं मार सकता है, तो क्या इसका नाम अभयदान हो जावेगा? यह तो एक व्यर्थ की बात है।

तेरह-पन्थियों की कुछ भ्रमोत्पादक युक्तियाँ और उनका समाधान

अब हम तेरह-पन्थियों की कुछ उन युक्तियों को बताते हैं, जिनको तेरह-पन्थी साधु लोगों के हृदय में से दया दान के प्रति श्रद्धा निकालने के लिए काम में लाया करते हैं। साथ ही उन कुयुक्तियों का कुछ जवाब भी देते हैं, जिससे जनता उनकी कुयुक्तियों के फन्दे से बच सके।

(१)

धन देकर जीव बचाना, व्यभिचार कराकर जीव बचाने के समान ही पाप है। यह बताने के लिए तेरह-पन्थी एक कैसी भीषण कुयुक्ति देते हैं, वह सुनिये। तेरह-पन्थी कहते हैं—

दोय वेश्या कसाई वाड़े गई, करता देखी हो जीवांरा संहार। दोनों जणियां मतो करी, मरता राख्या हो जीव दोय हजार॥ एक गहनो देई आपनो, तिन छुड़ाया

हो जीव एक हजार। दूजी छुड़ाया इण विधे, एक दोय सूं हो चोथो आस्रव सेवाड़॥ एकण सेवायो आस्रव पाँचमो, तो उण दूजी हो चौथो आस्रव सेवाय। फेर पड़्यो ईतो इण पाप मे, धर्म होसी हो ते तो सरीखो थाय।

('अनुकम्पा' ढाल ७ वीं)

अर्थात्—दो वेश्याएँ कसाईखाने में गईं। वहाँ बहुत जीवों का संहार होता देखकर दोनों ने सलाह की और दो हजार जीवों को मरने से बचाया। एक वेश्या ने तो अपने आभूषण देकर एक हजार जीव बचाये, और दूसरी वेश्या ने कसाई वाड़े के एक दो आदमी से चौथा आस्रव (अब्रह्मचर्य या व्यभिचार) सेवन कराकर एक हजार जीव बचाये। इनमें एक वेश्या ने गहने देकर पाँचवें आस्रव (परिग्रह) का सेवन कराया और दूसरी ने चौथे आस्रव (व्यभिचार) का सेवन कराया। उन दोनों के पाप में क्या अन्तर हुआ? यदि धर्म होगा, तो दोनों ही को बराबर होगा!

तेरह-पन्थियों के कहने का अभिप्राय यह है, कि धन देना, यह पाँचवें आश्रव का सेवन कराना है, और व्यभिचार करना, चौथे आश्रव का सेवन कराना है। इसलिए यदि धन देकर जीव बचाना धर्म है, तो व्यभिचार कराकर जीव बचाना भी धर्म

हैं ! क्योंकि धन देना भी आश्रव का सेवन कराना है, और व्यभिचार करना भी आश्रव का सेवन कराना है। दोनों ही आश्रव हैं, इसलिए चाहे धन देकर जीव छुड़ावे या व्यभिचार करके जीव छुड़ावे, दोनों एक ही समान हैं।

कैसी असभ्यता पूर्ण और मजेदार युक्ति है। इस कुयुक्ति के आगे तो लज्जा को भी लज्जित हो जाना पड़ता है। यह युक्ति किसी दूसरे की भी नहीं है, किन्तु तेरह-पन्थ सम्प्रदाय के मूल संस्थापक श्रीमान् भीषणजी स्वामी की स्वयं की कही हुई है। इस निर्लज्जता पूर्ण युक्ति का खण्डन करने के लिए हम भी निर्लज्जता पूर्ण युक्ति का आश्रय लेने के लिए विवश हैं। क्योंकि ऐसा ही उदाहरण उपरोक्त युक्ति का बराबर प्रत्युत्तर समान है।

मान लीजिये कि तेरह-पन्थ सम्प्रदाय के पूज्य जी का चातुर्मास किसी शहर में है। उनके दर्शनार्थ जाकर सेवा भक्ति करने का लाभ लेने की दो श्राविकाओं की इच्छा हुई। आखिर उन्होंने सेवा में जाने का निश्चय किया। परन्तु खर्च दोनों के पास नहीं था। इसलिए उनमें से एक श्राविका ने तो अपना जेवर बेचकर उन रुपयों से टिकिट लिया। लेकिन दूसरी ने सोचा कि रुपया देना पाँचवाँ आश्रव सेवन कराना है और व्यभिचार सेवन करना चौथा आश्रव सेवन कराना है। पाप तो दोनों ही है और बराबर हैं, बल्कि व्यभिचार से भी धन का नम्बर आगे है यानि

व्यभिचार का चौथा और धन का पाँचवाँ। ऐसी हालत में व्यर्थ का जेवर क्यों खोना ? ऐसा विचार करके उसने इस प्रकार के व्यवहार से स्टेशन वालों को प्रसन्न कर गाड़ी में बैठ गई, और जहाँ २ मौका आया इसी व्यवहार से पार होती गई। इस तरह दोनों पूज्यजी के सेवा में पहुँचीं। पहुँचने पर उस श्राविका ने पूज्यजी से अर्ज की कि यह मेरी साथ वाली बाई मूर्ख है। इसने पाँचवाँ आश्रव भी सेवन कराया और जेवर भी गुमाया। परन्तु मैंने चतुर्थ आश्रव का ही सेवन किया और धन बचा लाई सो यहाँ पर खाऊँगी, खर्चूंगी और प्रसंग पाकर दान लाभ भी उठाऊँगी।

क्या तेरह-पन्थी साधु, रुपया खर्चकर आने वाली श्राविका की अपेक्षा रुपया बचाकर आने वाली श्राविका को श्रेष्ठ मानेंगे? श्रेष्ठ न सही, बराबर तो मानेंगे ? उनकी दृष्टि में चौथा आश्रव और पाँचवाँ आश्रव समान ही हैं, फिर दोनों श्राविकाओं को समान मानने में क्या हानि है ? कदाचित् कहें कि जो व्यभिचारिणी है, वह श्राविका ही नहीं है, तो जिसने रुपया दिया वह भी श्राविका नहीं है। क्योंकि आप वेश्याओं के उदाहरण में स्पष्ट ही कहते हैं; कि "एक वेश्या ने जेवर देकर पाँचवें आश्रव का सेवन कराया, और दूसरी ने व्यभिचार कराके चौथे आश्रव का सेवन कराया, इसलिए दोनों ही का पाप या धर्म बराबर होगा"। तब

उदाहरण में कही हुई श्राविकाओं के लिए इस सिद्धान्त का उपयोग क्यों न होगा ? और यदि दोनों श्राविकाएँ बराबर नहीं हैं, तो धन देकर जीव छुड़ाना और व्यभिचार करके जीव छुड़ाना, समान कैसे हो जावेगा ? जीव बचाने के लिए न सही, अन्य कामों के लिए धन तो देना ही पड़ता है। क्या धन देना और व्यभिचार करना समान हैं ?

(२)

जीव रक्षा में पाप बताने के लिए तेरह-पन्थी एक और युक्ति देते हैं। इस युक्ति को समझाने के लिए वे चित्र आदि से भी काम लेते हैं। हम पहिले उनकी सारी युक्ति बता देते हैं, उसका जवाब फिर देंगे।

तेरह-पन्थी कहते हैं कि—'एक मकान के बाहर साधु ठहरे हुए थे। रात के समय मकान में एक चोर चोरी करने के लिए आया, और घर में से धन चुराकर बाहर निकला। साधु ने चोर को धन चुरा ले जाते देखकर सोचा कि मकान में चोरी हो जाने से हमारी बदनामी होगी। ऐसा सोच कर साधु ने चोर को चोरी त्यागने का उपदेश दिया। परिणामतः चोर ने वह धन वहीं डाल दिया, और चोरी करने का त्याग लेकर वहीं बैठ गया। सवेरे मकान और धन का मालिक आया। उसने अपने घर का ताला टूटा हुआ देखकर महात्मा से पूछा। महात्मा ने कहा कि यह

चोर है, और यह धन है। यह चोर धन चुरा कर जा रहा था, लेकिन हमने इसको चोरी के त्याग का उपदेश दिया, इसलिए इसने धन त्याग कर चोरी करने का सदा के लिए त्याग कर लिया है। यह सुनकर उस मकान और धन के मालिक ने महात्मा से कहा कि आपने मेरा धन बचाकर बड़ी कृपा की। यदि यह धन चला जाता, तो मैं लड़के का विवाह कैसे करता, मकान कैसे बनवाता और अन्य काम कैसे करता।'

'अब सोचने की बात यह है, कि साधु ने चोर को चोरी के पाप से बचाने के लिए उपदेश दिया, या धन बचाने के लिए। यदि धन बचाने के लिए साधु ने उपदेश दिया हो तो उस धन द्वारा होने वाले समस्त कामों में साधु का अनुमोदन होगा। उस धन के द्वारा होने वाले कामों का पाप साधु को भी लगेगा। इसलिए यही मानना होगा कि साधु ने धन रक्षा के लिए उपदेश नहीं दिया, किन्तु चोर को चोरी के पाप से बचाने के लिये उपदेश दिया।'

'यही बात मारने वाले और मारे जाने वाले के लिए भी समझो। एक आदमी एक बकरे को मार रहा है। उस मारने वाले को पाप से बचाने के लिए साधु उपदेश देते हैं, परन्तु बकरे को बचाने के लिए नहीं देते। यदि बकरे को बचाने के लिए साधु उपदेश देते हैं, तो फिर ऐसा भी मानना होगा कि धन

बचाने के लिए भी साधु उपदेश देते हैं। और यदि बकरे के बचने से धर्म माना जावेगा, तो धन बचने से भी धर्म मानना होगा।' इसके सिवाय वे एक और उदाहरण देते हैं।

'एक व्यभिचारी पुरुष एक स्त्री के पास दुराचार करने के लिए जा रहा था। साधु ने उसको दुराचार का दुष्परिणाम बताया, जिससे वह पुरुष समझ गया, और उसने परदार-गमन का त्याग कर लिया। त्याग लेने के पश्चात् वह उस व्यभिचारिणी स्त्री के पास गया, और उससे बोला, कि मैंने तो महात्मा के पास से पर-स्त्री-सेवन का त्याग कर लिया है, इसलिए मैं तुम्हारे साथ अब सम्भोग नहीं कर सकता। यह सुनकर उस व्यभिचारिणी स्त्री ने कहा, कि तुमने मुझे वचन दिया था, इसलिए या तो मेरे साथ सम्भोग करो, नहीं तो मैं कुएँ में गिर कर मर जाऊँगी। व्यभिचारिणी स्त्री के बहुत कहने पर भी जब वह पुरुष नहीं माना, तब वह स्त्री कुएँ में गिर कर मर गई।'

'अब यदि मारने वाले को उपदेश देने से बकरा बच गया और बकरे के बचने का धर्म साधु को हुआ, तो व्यभिचारी पुरुष को उपदेश देने से व्यभिचारिणी स्त्री कुएँ में गिर कर मर गई, उसका पाप भी उपदेश देने वाले को लगेगा। परन्तु व्यभिचार का त्याग कराने से जो व्यभिचारिणी स्त्री मर गई, उसका पाप साधु को नहीं लगता, उसी प्रकार बकरा मारने वाले को हिंसा

का त्याग कराने से जो बकरा बच गया उसका धर्म या पाप भी त्याग कराने वाले को नहीं लगता। जिस तरह धन का बचाना पाप है, उसी प्रकार बकरे का बचाना भी पाप है, परन्तु जिस तरह व्यभिचार का त्याग कराने से जो स्त्री मर गई, उस स्त्री के मरने का पाप उपदेश देने वाले को नहीं लगता, उसी प्रकार धन और बकरे के बचने का पाप भी उपदेश देने वाले को नहीं लगता।'

यह है मरते हुए जीव को बचाने में पाप सिद्ध करने के लिए तेरह-पन्थी साधुओं की कुयुक्ति! इस युक्ति से लोगों को भ्रम में डालने के लिए कैसी झूठी बातों का आश्रय लिया गया है, पहले हम यह बता देना उचित समझते हैं। धन की रक्षा के लिए साधु उपदेश देते हैं, या धन की रक्षा के लिए शास्त्र कहता है, यह बात कोई भी नहीं मानता। प्रश्न प्राण रक्षा का है, न कि धन रक्षा का। शास्त्र में 'पाणानुकम्पए, भूयानुकम्पए, जीवानुकम्पए, सत्तानुकम्पए' पाठ तो आया है, परन्तु 'धनानुकम्पए' कहीं नहीं आया है। ऐसी दशा में जीव रक्षा के सम्बन्ध में धन रक्षा का उदाहरण देना, किसी भी तरह उपयुक्त नहीं है। धन जड़ है, और जीव चैतन्य है। जीव को सुख दुःख का अनुभव होता है, लेकिन धन को सुख दुःख का अनुभव नहीं होता। धन चाहे जमीन के ऊपर रहे, जमीन के भीतर रहे, चोर के यहाँ रहे,

साहूकार के यहाँ रहे, उसको न हर्ष होता है, न शोक होता है क्योंकि वह जड़ है। परन्तु जीव के लिए यह बात नहीं है। जीव, अनुकूल परिस्थिति से प्रसन्न होता है, और प्रतिकूल परिस्थिति से दुःखी होता है। बकरे को यदि काटा या जलाया जाने लगे, तो वह चिल्लाता है, परन्तु धन को चाहे काटा जावे या जलाया जावे, वह चूँ तक नहीं करता। ऐसी दशा में मारे जाते हुए बकरे की तुलना, चोरी जाते हुए धन से करना, यह तो लोगों को भ्रम में डालना ही है।

दूसरी बात यह कि कोई व्यभिचारिणी स्त्री अपने जार पति के लिए मरी हो, इस बात का एक भी उदाहरण नहीं मिल सकता। जार पति से रुष्ट होकर, उसका व्यभिचारिणी स्त्री ने सर्वनाश करा दिया या कर देती है। इसके तो सैंकड़ो उदाहरण हैं, परन्तु जार पति के छूट जाने से कोई व्यभिचारिणी स्त्री मरी हो, इसका उदाहरण संसार भर में ढूँढने पर भी नहीं मिल सकता। जो स्त्री अपने विवाहित पति को भी छोड़ सकती है, वह अपने जार पति के लिए प्राण दे दे, यह कभी सम्भव ही नहीं है। इस तरह का उदाहरण देना भी लोगों को भुलावे में डालने के लिए ही है।

हम तेरह-पन्थियों की युक्ति का खण्डन उन्हीं की युक्ति को दूसरे रूप में रखकर करते हैं।

मानलो कि एक मकान के बाहर साधु ठहरे हुए हैं। चोर उस मकान में से धन चुराकर निकला। महात्मा ने धन चुराकर जाते हुए चोर को देख कर सोचा कि धन चोरी जाने से हम यहाँ ठहरे हुए हैं, इसलिए हमारी भी बदनामी होगी और जैन धर्म को भी लांछन लगेगा। ऐसा सोचकर महात्मा ने चोर को चोरी-त्याग का उपदेश दिया। परिणामतः धन वहीं छोड़कर, चोर ने महात्मा से चोरी का प्रत्याख्यान लिया और वहीं बैठ गया। सबेरे धन का स्वामी आया। उसने ताला टूटा देख महात्मा से पूछा। महात्मा ने कहा कि यह धन है, और यह चोर है। हमने इसको उपदेश दिया, इससे इसने यह तुम्हारा धन भी छोड़ दिया और सदा के लिए चोरी का त्याग कर दिया। यह सुनकर धन के स्वामी ने कहा कि आपने इस चोर को उपदेश देकर यह मेरा धन नहीं बचाया है; किन्तु मेरे प्राण बचाये हैं। यदि मेरा वह धन चला जाता, तो मुझे इतना दुःख होता कि मैं मर ही जाता। मैं आपका बहुत उपकार मानता हूँ।

इस तरह चोर को चोरी त्यागने का उपदेश देने से चोर भी पाप से बचा और धन का स्वामी भी आर्त्त ध्यान करके मरने से बचा। धन को तो सुख दुःख होता नहीं है, जो सुख दुःख होता है, वह उसके स्वामी को। इसलिए चोर भी पाप से बच गया, तथा धन का स्वामी भी दुःख, मृत्यु एवं आर्त्त ध्यान के पाप से

बच गया। ऐसी दशा में चोर को चोरी त्यागने का जो उपदेश दिया गया, उस उपदेश से चोर का भी हित हुआ, और धन के स्वामी का भी हित हुआ। दोनों ही व्यक्ति पाप से बचे। यह क्या बुरा हुआ?

यही बात बकरे को मारने वाले और बकरे के सम्बन्ध में भी समझो। मारने वाले को न मारने के लिए जो उपदेश दिया गया, उस उपदेश से मारने वाला भी पाप से बचा और बकरे की भी जीवन-रक्षा हुई, वह आर्त्तध्यान के पाप से बचा। इसमें क्या बुराई हुई?

तेरह-पन्थी लोग व्यभिचारी पुरुष और व्यभिचारिणी स्त्री का उदाहरण देते हैं। हम इस उदाहरण को भी अनुकूल रूप में रखते हैं। मानलो कि एक व्यभिचारी पुरुष अपनी कुलटा प्रेयसी के साथ व्यभिचार करने के लिए जा रहा था। मार्ग में महात्मा मिले, जिनके उपदेश से उस पुरुष ने पर-स्त्री-गमन का त्याग कर दिया। फिर वह पुरुष उस व्यभिचारिणी स्त्री के पास गया। उसने व्यभिचारिणी स्त्री को महात्मा द्वारा दिया गया उपदेश भी सुनाया और उससे यह भी कहा, कि मैंने महात्मा से व्यभिचार का त्याग कर लिया है। यह सुनकर व्यभिचारिणी स्त्री के मन में व्यभिचार से घृणा हुई, वह भी व्यभिचार के दुष्फल से भय-भीत हुई। अतः उस व्यभिचारिणी स्त्री ने भी महात्मा के पास

आकर पर-पुरुष-सेवन का त्याग कर लिया और सदाचारिणी बन गई *। इतने ही में उस पुरुष की विवाहिता स्त्री ने सुना कि मेरे पति ने परदार-गमन का त्याग कर लिया है। यह सुनकर वह भी प्रसन्न होती हुई महात्मा के पास आई। उसने महात्मा से कहा, कि आपने मेरे पति को पर स्त्री का त्याग करा दिया, यह आपने बड़ी कृपा की। मेरे पति व्यभिचारी हो गये थे, और बहुत कहने सुनने पर भी वे नहीं मानते थे; इसलिए मैं भी व्यभिचारिणी हो जाती, परन्तु आपकी कृपा से मेरे पति सुमार्ग पर आगये, अतः मैं भी पर-पुरुष गमन का त्याग करती हूँ।

इस प्रकार एक व्यभिचारी पुरुष को उपदेश देने से उस पुरुष की पत्नि भी व्यभिचार में प्रवृत होने से बच गई, तथा व्यभिचारिणी स्त्री ने भी व्यभिचार त्याग दिया। यह क्या बुरा हुआ?

मतलब यह कि जिस प्रकार चोर को उपदेश देने से, चोर और धन के स्वामी का हित हुआ, उसी प्रकार मारने वाले को उपदेश देने से, मारने वाले का और बकरे का हित हुआ; तथा उसी प्रकार व्यभिचारी को उपदेश देने से व्यभिचारी पुरुष,

---

* तेरह-पन्थियों में इस तरह की अनुकूल भावना तो होती ही नहीं है। उनकी भावना ऐसी कलुषित हो गई है, कि जिससे वे प्रतिकूल और पाप की ही कल्पना करते हैं।

उसकी पत्नी तथा व्यभिचारिणी स्त्री तीनों का हित हुआ। इसमें पाप क्या हुआ?

(३)

दया को हृदय से निकालने के लिए तेरह-पन्थी लोग एक यह युक्ति देते हैं कि—

'एक खड्डे में थोड़ा सा पानी है, जिसमें बहुत सी मछलियाँ भरी हुई हैं। एक प्यासी भैंस पानी पीने के लिए आई। एक आदमी जो वहाँ खड़ा है, और खड्डे में पानी थोड़ा तथा मछली मेंढक बहुत होने की बात जानता है, यदि भैंस को हाँकता है, तो भैंस प्यास की मारी मरती है, और नहीं हाँकता है, तो खड्डे में की मछलियाँ, भैंस के पैरों से मरती हैं। एक ओर दया करने पर दूसरी ओर हिंसा होती है। इसी से हम कहते हैं कि संसार में तो ऐसा चलता ही रहता है। अतएव अपने को न तो भैंस पर ही दया करनी चाहिए, न मेंढक मछली पर, किन्तु मौन रखना चाहिए।'

यह तेरह-पन्थियों की युक्ति है। इसका जवाब हम इस रूप में देते हैं, कि यदि उस आदमी ने छाछ या धोवण पिलाकर भैंस की प्यास भी मिटा दी और खड्डे में के मेंढक मछली को भी बचा दिया, तो यह तो ठीक हुआ मानोगे न? उसने दोनों ही पर दया की, इसमें तो पाप नहीं हुआ? किन्तु तेरह-पन्थी तो

छाछ पिलाने में भी पाप मानते हैं। साधु के सिवाय किसी को कुछ भी देने या बचाने में एकान्त पाप मानते हैं।

(४)

तेरह-पन्थी कहते हैं कि 'एक बिल्ली चूहे को मारना चाहती है। यदि चूहों को बचाने के लिए बिल्ली को हाँका जाता है, तो बिल्ली भूखी रहती है और उसको अन्तराय लगती है। इसी से हम कहते हैं कि किसी को बचाने में धर्म पुण्य नहीं है।'

हम तेरह-पन्थियों की इस युक्ति का यह उत्तर देते हैं कि यदि किसी आदमी ने बिल्ली को भी दूध पिला दिया और चूहे को भी बचा दिया, तो इसमें क्या पाप हुआ? दोनों ही बचे हैं।

(५)

तेरह-पन्थी कहते हैं कि 'एक गाय प्यासी बँधी हुई थी। एक आदमी ने दया लाकर उस गाय को पानी पीने के लिए खोल दिया। वह गाय पानी पीने चली; परन्तु एक दूसरे आदमी ने सोचा कि यह गाय इस तलैया में जा रही है। तलैया में पानी बहुत थोड़ा है, और मेंढक मछली बहुत हैं, जो गाय के पाँव से दब कर मर जावेंगे। ऐसा सोचकर उसने पानी पीने के लिए जाती हुई गाय को वापस हाँक दी, गाय को पानी नहीं पीने दिया। इस तरह एक आदमी ने तो गाय की दया की, पानी में के मेंढक मछली की दया नहीं की और दूसरे आदमी ने मेंढक मछली की दया की,

गाय को अन्तराय दी। एक तीसरा आदमी भी वहाँ खड़ा है, जिसने मेंढक मछली की भी दया नहीं की, और गाय को भी अन्तराय नहीं दी, उसको भी पानी पीने से नहीं रोका, तो इन तीनों में से सच्चा दयावान कौन ठहरा ?'

इस तरह भोले लोगों से प्रश्न करते हैं। भोले लोग कह देते हैं, कि 'जो चुपचाप खड़ा रहा, वही सच्चा दयावान है।' परन्तु हम इस युक्ति को दूसरे रूप में रखते हैं।

एक गाय प्यासी बँधी थी। एक दयालु पुरुष को यह मालूम नहीं था, कि तलैया में पानी कम है, और मेंढक मछली मर जावेंगे, इसलिए उसने गाय को पानी पीने के लिए खोल दिया। दो आदमियों को यह मालूम था, कि तलैया में पानी कम है, मेंढक मछली ज्यादा हैं, और यह प्यासी गाय वहाँ पानी पीने के लिए जावेगी, तो मेंढक मछली की हिंसा हो जावेगी। यह मालूम होने पर भी एक आदमी तो चुप चाप ही खड़ा रहा, परन्तु दूसरे आदमी ने अपने घर से धोवन का अचित पानी लाकर गाय को पिला दिया। इस तरह उसने गाय की भी दया की और मेंढक मछली की भी दया की। अब इन दोनों आदमियों में से कौन अच्छा है ? जो चुप चाप खड़ा रहा वह दयालु है, या जिसने गाय की भी रक्षा की तथा मेंढक मछली की भी रक्षा की, वह दयालु है ? दोनों में कोई अन्तर है या नहीं ? दोनों

की दया करने वाले को तो दयावान मानोगे ? किन्तु तेरह-पन्थी दोनों को ही पापी मानते हैं।

(६)

तेरह-पन्थी कहते हैं कि 'कुछ आदमी भूखों प्यासों मर रहे हैं। उनको गाजर मूला खिला तथा कच्चा पानी पिलाकर बचाया, यह कितना पाप हुआ! क्योंकि गाजर, मूला और कच्चे पानी में अनन्त जीव हैं। बचे तो कुछ आदमी, और हिंसा हुई अनन्तों जीवों की। इसी से हम कहते हैं कि भूखों को खिलाना और प्यासों को पानी पिलाना पाप है।'

इस तरह गाजर मूले और पानी के जीवों की हिंसा को आगे रखकर भूखे प्यासे को भोजन पानी देना पाप बताते हैं। यद्यपि उनका उद्देश्य तो लोगों के हृदय में से दुःखी के प्रति दया निकालना है, परन्तु उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे इस तरह की बात आगे रख कर लोगों को चक्कर में डालते हैं। हम उनकी इस युक्ति के उत्तर में दूसरी युक्ति रखते हैं, जिसमें गाजर, मूला या पानी के जीवों की हिंसा का नाम भी नहीं है।

मानलो कि कुछ आदमी भूखों प्यासों मर रहे थे। इस कारण वे एक बकरे को मार डालने की तैयारी में थे। इतने ही में वहाँ से एक श्रावक निकला, जो गरम पानी ही पीता था, कच्चा पानी नहीं पीता था। उस श्रावक ने उन आदमियों से पूछा, कि

इस बकरे को क्यों मार रहे हो ? उन लोगों ने उत्तर दिया कि हम भूखे प्यासे हैं, इसलिए ! उस श्रावक के पास बहुत सी मिठाई वग़ैरा खाद्य पदार्थ भी था, और एक बड़ा लोटा था, जिसमें पक्का (गर्म) पानी भरा हुआ था। उस श्रावक ने उन लोगों को मिठाई वग़ैरा खिलाकर तथा वह पक्का पानी पिलाकर उनकी भूख प्यास का दुःख भी मिटा दिया, तथा जो बकरा मारा जा रहा था, उसको भी बचा दिया। इस कार्य में तो गाजर, मूला या कच्चे पानी के जीवों की हिंसा नहीं हुई, इसलिए इस तरह के कार्य को तो पाप न मानोगे ? उन भूखे प्यासे लोगों का और बकरे का दुःख मिटा, यह तो पाप नहीं हुआ ? ऐसी दशा में किसी भूखे प्यासे का कष्ट मिटाने को पाप बताने के लिए गाजर, मूले और कच्चे पानी के जीवों की हिंसा को आगे रखना, लोगों को भ्रम में डालने के लिए ही रहा या और कुछ ?

(७)

तेरह-पन्थी कहते हैं, कि 'किसी आदमी का पेट दुःख रहा था, और वह मर रहा था। उसका दुःख मिटाने के लिए हुक्का पिलाया, इसमें आग पानी के जीवों की कितनी हिंसा हुई ? इसी से जीव को बचाना, या दुःख पाते हुए का दुःख मिटाना पाप है।'

हम तेरह-पन्थी लोगों की इस दलील को दूसरे रूप में सामने रखते हैं। मान लो, कि एक आदमी के पेट में जब तब दर्द होने लगता था, इसलिए वह हुक्का पिया करता था। जिसमें आग पानी के जीवों की हिंसा हुआ करती थी। किसी दयालु पुरुष ने उस आदमी को एक ऐसी अचित दवा दी, कि जिससे उसका पेट का दुःखना मिट गया तत्पश्चात् उसने हुक्का पीना भी छोड़ दिया, जिस प्रकार से उसका पेट दुखना बन्द हो गया और आग पानी के जीवों की हिंसा भी बच गई; इस काम में तो उस दवा देने वाले आदमी को पाप नहीं लगा?

इसी प्रकार कोई आदमी दारू पीता था और बहुत उत्पात करता था, घर के लोगों को मारा पीटा करता था, तथा दूसरे लोगों से भी झगड़ा किया करता था। इतना ही नहीं वह घर में का अनाज भी दारू खरीदने के लिए बेंच दिया करता था, जिससे उसके घर के लोग भूखों मरते थे। यह देखकर एक दयालु आदमी उस दारू पीने वाले को दूध पिलाने लगा, जिससे उसकी दारू पीने की आदत छूट गई और वह भी पाप से बच गया, तथा उसके घर के लोग भी आर्त्तध्यान आदि के पाप से बच गये। इस काम में तो उस दूध पिलाकर दारू छुड़ाने वाले को पाप लगना न मानोगे? यदि इन दोनों कामों में भी पाप होना मानते हो, तो फिर हुक्के से होने वाली हिंसा का नाम क्यों लेते हो?

लोगों को आग पानी आदि के जीवों की हिंसा का नाम लेकर भ्रम में क्यों डालते हो? स्पष्ट ही क्यों नहीं कहते कि किसी दुःखी का दुःख मिटाना, किसी मरते हुए जीव को बचाना पाप है, चाहे दुःख मिटाने या बचाने में किसी जीव की हिंसा न भी हुई हो, और अचित (निर्जीव) पदार्थ के देने, अथवा निर्वद्य (पाप रहित) उपाय के करने से ही किसी का दुःख क्यों न मिटा हो, या कोई मरता हुआ जीव क्यों न बचा हो!

तेरह-पन्थी साधु इसी तरह की अनेक युक्तियाँ देते हैं, जिन्हें कुयुक्तियाँ कहना कुछ भी बुरा न होगा। उन सब का वर्णन या खण्डन ग्रन्थवृद्धि के भय से नहीं किया गया है, किन्तु उनमें की कुछ ही युक्तियों का हमने वर्णन किया है, और तेरह-पन्थी साधुओं की युक्ति का खण्डन करने वाली युक्तियाँ दी हैं। हमारे द्वारा वर्णित युक्तियों पर से बुद्धिमान व्यक्ति उन सब युक्तियों के विरुद्ध युक्ति की कल्पना कर सकता है, जो तेरह-पन्थी साधुओं की ओर से दी जावें।

हमने अपनी ओर से जो युक्तियाँ ऊपर दी हैं, वे युक्तियाँ तेरह-पन्थियों से प्रश्न करने के रूप में भी काम में लाई जा सकती हैं। ऐसा करने से तेरह-पन्थियों की मान्यता का नग्न रूप सामने आ ही जावेगा और यह पता लग जावेगा, कि तेरह-पन्थियों की मान्यता का असली रूप क्या है, तथा वे उस असली रूप को

छिपाने के लिए कैसी-कैसी तरकीबों-युक्तियों आदि से काम लेते हैं।

नोट—तेरह-पन्थ के सैद्धान्तिक ग्रन्थ 'भ्रम विध्वंसन', 'भिक्षु-यश रसायन', 'अनुकम्पा की ढालें' और 'बारह व्रत की ढालें', इसी तरह की कुयुक्तियों से भरे पड़े हैं। लोगों द्वारा उन कुयुक्तियों का खण्डन और विरोध होता देखकर तेरह-पन्थ सम्प्रदाय के कर्णधारों ने अब इन पुस्तकों का बेचना और किसी को देना तक बन्द कर दिया है। आप, तेरह-पन्थी साधुओं से इन पुस्तकों के विषय में पूछिये, और इनको मँगवाने का प्रयत्न कीजिये, तब आपको हमारे कथन पर विश्वास हो जावेगा।

॥ समाप्त ॥

परिशिष्ट नं० १

इस उद्धरण से तेरह-पन्थ सम्प्रदाय के संकुचित मानस का परिचय होगा

थली में पाँच दिन का प्रवास

(ले०—श्री भँवरमलजी सिंघी, 'तरुण जैन' नामक मासिक पत्र से उद्धृत अंक—दिसम्बर १९४१ के लेख का उपयोगी अंश)

मैं तारीख ६ नवम्बर की रात को लाडनू पहुँचा। लाडनू में एक ही दिन में कई संस्थाओं को देख सका और बहुत से लोगों से बहुत से विषयों पर चर्चा विमर्श करने का मौका मिला, इसका श्रेय लाडनूं के उन मित्रों को है, जिन्होंने अपना समय देकर मुझे कृतार्थ किया।

दूसरे दिन सुबह मेरे मित्र श्री मूलचन्दजी बैद और मैं पड़िहारा जाने के लिए सुजानगढ़ स्टेशन तक ऊँट पर गये। वहाँ

से रेल द्वारा दिन के १० बजे पड़िहारा पहुँचे। वैसे पड़िहारा जाने का कोई कारण नहीं था—पर चूँकि तेरापन्थी सम्प्रदाय के आचार्य श्री तुलसारामजी, जिनको आम तौर से 'पूज्यजी' कहा जाता है, उस समय पड़िहारा में थे, इसलिए उनसे भेंट करने की इच्छा हमें वहाँ लेगई। पड़िहारा स्टेशन पर ट्रेन से उतरते ही हमें 'पूज्यजी' के दर्शन के लिए आने जाने वाले यात्रियों की चहल पहल दिखाई दी। स्टेशन से बाहर ही एक लारी खड़ी थी, जो पूज्यजी के दर्शन के लिए आने वाले यात्रियों को स्टेशन से गाँव में लेजाने और वहाँ से वापस लाने के लिए हर ट्रेन टाइम पर स्टेशन पर आया जाया करती थी। इसी लारी में बैठ कर हम गाँव में उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ 'पूज्यजी' बिराजे हुए थे।

जिस समय हम महाराज के पास गये, उस समय वे 'आहार' के लिए जाने वाले थे; इसलिए साधारण परिचयात्मक बात-चीत के बाद हम भी उस समय वापस आगये। आहार के बाद तथा और कोई धार्मिक क्रिया थी तो उसके बाद हम उनसे मिले। पूज्यजी के पास एक तरफ साधु साध्वी बैठे थे और दूसरी तरफ दर्शनार्थी श्रावकगण। तब से लगाकर शाम के ३।।–४ बजे तक का अपना बहुत सा समय पूज्यजी ने मेरे साथ बात-चीत करने में दिया, इसके लिए मैं यहाँ उनका आभार स्वीकार करना अपना फर्ज समझता हूँ।

इस मुलाकात के सम्बन्ध में चूंकि बहुत से प्रश्न मुझ से किये गये हैं, इसलिए मैं कुछ विस्तार से अपने अनुभवों को व्यक्त करूँगा। सब से पहले मुझे यह कहना है कि मैं पूज्यजी के पास यह देखने के लिए नहीं गया था कि वे और उनके अधीनस्थ साधु शास्त्रोक्त क्रियाओं का पूरा पूरा पालन करते हैं या नहीं। मेरी ऐसी दृष्टि ही नहीं है। मेरे निकट तो सच्चे साधु की परीक्षा यह है भी नहीं। मुझे तो जीवन से मतलब है, जीवन को मैं देखता हूँ। वही देखने की चीज है भी। अगर जीवन में साधुत्व हुआ, तो वह खुद पोला करता है। उसे शास्त्रों के विधि-विधानों की आवश्यकता रह ही क्यों जायगी? प्रत्येक मानव प्राणी का ध्येय अपने जीवन का निरन्तर विकास करना है—ऐसा विकास जो दूसरों के जीवन विकास में बाधक तो होता ही नहीं बल्कि मदद करता है। यह जीवन विकास ही सच्चा सुख है और सन्तों की भाषा में 'आत्म कल्याण' है। पर यह समझना जरूरी है कि समग्र जीवन एक है, उसके अलग अलग टुकड़े नहीं हो सकते। इसलिए जीवन-विकास के ध्येय की प्राप्ति सारे जीवन के विकास से होती है। इसके लिए हमें जीवन के भीतर और बाहर सब जगह शुद्धि का वातावरण चाहिये। संयम, तप और त्याग के द्वारा अपनी शक्तियों का विकास करना तो जरूरी है ही, पर यदि इन विकसित शक्तियों का उपयोग नहीं किया जाय या

इस भाँति उपयोग न किया जाय जिससे जगत का अधिक से अधिक कल्याण हो, तो उस तप, त्याग और संयम से कोई लाभ नहीं हो सकता। ऐसी हालत में तो वे जीवन में उल्टी कृत्रिमता पैदा करते हैं। इसलिए मैं तप, त्याग और संयम को उस समय तक कोई महत्व नहीं देता जब तक कि यह न मालूम हो जाय कि उनका उपयोग किस तरह किया जा रहा है।

इस दृष्टि से विचार करने पर, मैंने पड़िहारा में जो कुछ देखा, उससे मुझे कोई सन्तोष नहीं मिला। पूज्यजी से जो बातें हुईं, उनमें विचारक की सजगता नहीं मिली, जीवन विकास के उम्मीदवार की जागरूक बुद्धि और उदार दिल भी नहीं मिला। आज प्रायः अधिकांश 'साधुओं' की यही हालत है और पूज्यजी उसके बाहर नहीं है। यहाँ मेरा उद्देश्य उन सारे प्रश्नों की चर्चा करने का नहीं है, जिन प्रश्नों पर पूज्यजी के साथ मेरी बात-चीत हुई। उन सब की चर्चा करना न तो आवश्यक ही है और न सम्भव हो है। मैं यहाँ सिर्फ अपने विचार ही प्रकट करूँगा, जो पूज्यजी से मिलने के बाद मेरे मन में उत्पन्न हुए।

यदि किसी प्रश्न पर शास्त्र को छोड़कर वे विचार ही नहीं कर सकते—शास्त्र में जो कुछ लिखा है या जो कुछ लिखा हुआ

वे मानते हैं * उसमें किसी भी तरह का परिवर्तन करना उनको मंजूर ही नहीं, तब चर्चा से मतलब ही क्या निकल सकता है ? परिवर्तन करना उनकी दृष्टि से धर्म-च्युत होना है। 'कोई बात कितनी ही ग्रहण करने योग्य क्यों न हो, अगर शास्त्र में उसको ग्रहण करने का नहीं लिखा है, तो वह अग्राह्य ही है।' मेरी समझ में जीवन विकास करने वाले की यह दृष्टि नहीं हो सकती। ऐसे आदमी को मैं शास्त्रों के प्रति सच्चा भले ही कह दूँ, पर जीवन के प्रति या मनुष्यता के प्रति तो कभी सच्चा नहीं मान सकता। जिस जीवन में मुझे स्पष्ट मानवता का विरोध दिखाई दे रहा है या कम से कम मानवता को तरफ उपेक्षा पोषित की जा रही है, उसका लाख लाख शास्त्र समर्थन करें तो भी मैं उसे निर्दोष नहीं कह सकता।

साधुत्व का वेष पहन लेने के कारण ये साधु संसार से अपना कोई वास्ता नहीं समझते, यह देख और सुनकर तो मेरे आश्चर्य का पार न रहा। 'संसार त्याग' का अर्थ इन्होंने यह किया है कि अब संसार के प्रति उनकी कोई जिम्मेवारी ही नहीं रह गई है। उनका उद्देश्य तो आत्म कल्याण की साधना करना

---

* शास्त्रों के पाठ का अर्थ चाहे कुछ भी होता हो। पर उन्होंने जो मान रक्खा है, उसी को आगे लाते हैं; किन्तु सूत्र के फलीतार्थ या आशय पर विचार करने की शक्ति ही नहीं है। —प्रकाशक

है; और यह आत्म कल्याण भी जरा विचारने की चीज है; जो अन्य किसी भी चीज से मेल नहीं खाता। अगर पास की झोंपड़ी में ही एक अनाथ बालक रुग्णावस्था की वेदना से कराह रहा हो तो भी ये आत्म-कल्याणी साधु उसकी सेवा करने जाकर अपने आत्म कल्याण को खण्डित नहीं कर सकते; क्योंकि उनके शास्त्र में रोगी की सेवा करना आत्म-कल्याण का रास्ता नहीं बताया है।

इस तरह की जड़ बुद्धि से जहाँ सारा जीवन-व्यापार चल रहा है, वहाँ किस साधुता की परिक्षा करूँ? यह कहे जाने पर कि 'मीलों के वस्त्र में ज्यादा हिंसा होती है, इसलिए आपको खादी ही काम में लानी चाहिये।' तब यह जवाब मिला कि 'हमारे लिए तो दोनों (वस्त्र) हिंसा से मुक्त हैं क्योंकि वे हमारे लिए तैयार नहीं किये गये हैं' तो उनकी बुद्धि पर तरस आये बिना नहीं रह सका। ऐसे ही लोगों के लिए और इसी तरह का तर्क किये जाने पर रूस के महान् विचारक टालसटाय ने लिखा होगा। कि "मनुष्य कहीं भी और किसी रूप में रहता हो, पर यह निश्चित है कि उसके सिर पर जो मकान की छत है, वह स्वयं नहीं बनी, चूल्हे में जलने वाली लकड़ियाँ भी अपने आप वहाँ नहीं पहुँच गईं, न पानी बिना लाए स्वयमेव आगया और पकी हुई रोटियाँ भी आसमान से नहीं बरसीं। उनका खाना,

कपड़ा और पैरों के जूते ये सब उनके लिए बनाए गये हैं, और इनके बनाने वाले पिछली पीढ़ियों में रहने वाले वे लोग नहीं थे, जो अब सब मर-खप गये हैं। ये सब काम आजकल विद्यमान रहने वाले वे ही लोग कर रहे हैं, जो अपनी जरूरतें पूरी करने नहीं पाते और दुनिया में दूसरों के लिए मेहनत करते घुल घुल कर मर जाते हैं।"

खेती करने में और हर प्रकार की प्रवृत्ति में ये साधु पाप बताया करते हैं और पाप से मुक्त होने का उपदेश दिया करते हैं, पर जब उनसे सीधा प्रश्न किया जाता है कि 'अगर सभी आपका उपदेश मान लें और पाप समझ कर हर प्रकार की उत्पादक प्रवृत्ति छोड़ दें तो हमारा और आपका जीवन कैसे चलेगा और यह आत्म कल्याण कैसे निभेगा?' तो ऐसे प्रश्नों से वे अपना कोई वास्ता नहीं समझते और टाल्स्टाय के ही शब्दों में "उस प्रश्न से बिल्कुल असम्बद्ध प्रश्नों की पाण्डित्य पूर्ण चर्चा करने लग जाते हैं।' संसार के नाम पर सभी तरह की प्रवृत्तियाँ आदमी करते हैं और कर सकते हैं, साधुओं को उससे कोई मतलब नहीं; पर मैं पूछता हूँ, प्रवृत्तियों से चाहे वे मुक्त हों, पर प्रवृत्तियों के परिणाम से कहाँ मुक्त हैं? खेती करने को वे पाप बताते हैं, पर अन्न वे खाते हैं; कुआँ खुदाने को पाप कहते हैं, पर कुएँ का पानी वे पीते हैं; कपड़ा बुनने और बुनवाने में वे पाप

समझते हैं, पर कपड़ा वे पहनते हैं; रोगी-उपचर्या और चिकित्सा में वे धर्म नहीं समझते, पर औषधि-चिकित्सा वे कराते हैं।

इन सब प्रश्नों का उनके पास जवाब है कि 'पंच महाव्रतधारी' को इनमें पाप नहीं लगता क्योंकि ये सब उनके निमित्त नहीं किये जाते। बस, पंच महाव्रतधारी इन प्रवृत्तियों के पाप से मुक्त हैं, उन्हें यह सन्तोष रहता है कि किसी को कह कर वे यह नहीं कराते हैं, और यह मालूम हो जाने पर कि उनके निमित्त से वे की गई हैं तो वे उनका लाभ नहीं लेते *। पर यह कोई कहे तभी तो मालूम हो? क्योंकि जिस साधारण बुद्धि से यह मालूम हो भी सकती है, उसे तो वहाँ स्थान ही नहीं है। वहाँ तो केवल शास्त्रीय बुद्धि है।

दान की भी ऐसी ही स्वार्थपूर्ण विडम्बना की गई है। पंच महाव्रतधारी साधु को दान देने में धर्म है, और अन्य किसी को देने में धर्म नहीं है। इसको कहते हैं वे सुपात्र-दान! और ऐसे सुपात्र तेरा-पन्थी साधुओं के सिवाय और किसी का होना शायद ही सम्भव हो। मैंने पूज्यजी से पूछा कि "अगर सत्य और अहिंसा

---

* इस विषय में भी ढांक पिछोड़ा हो रहा है, केवल शब्द से पूछ लेने मात्र से कि यह आपके लिये नहीं बनाया गया है निर्दोष और प्रासुक नहीं हो जाता, जब तक कि उसकी उत्पत्ति के उद्देश्य पर विचार व मनन नहीं किया जाय। —प्रकाशक

की साधना पर ही पंच महाव्रतों का आधार है, तो एक प्राणी के लिए जितना अहिंसा-पालन सम्भव हो सकता है उतना यदि एक आदमी करता है, फिर भी न तो वह पंच महाव्रतों की व्याख्या ही जानता है, और न अमुक प्रकार का वेष पहनता हैं और न अमुक प्रकार का अध्ययन ही करता है और न अमुक प्रकार की क्रियाएँ ही करता है पर वो अपना सारा जीवन अपने अहं को कुचलकर दूसरों की सेवा में खपाता है, तो वह सुपात्रों की गिनती में आता है या नहीं ?" यह कहते हुए कि 'आ सकता है' महाराज को काफी कठिनाई सी हुई। खैर, उन्होंने इतना स्वीकार तो कर लिया, यही क्या कम है ? इन सारी बातों से यही मालूम होता है कि बुद्धि और विचार के लिए बहुत कम गुंजाइश इस तरह के सम्प्रदायवाद के घेरों में रह गई है। जहाँ बुद्धि इतनी संकुचित है, हृदय इतना संकीर्ण है, जीवन के कर्तव्य इतने सीमित हैं, वहाँ मानवता के लिए है ही क्या ?

दीक्षा देते समय पूज्यजी दीक्षा लेने वाले के अभिभावक से एक आज्ञा-पत्र लेते हैं। गत चातुर्मास में दी हुई दीक्षाओं के ऐसे आज्ञा-पत्र मेरे सामने रखे गये, शायद यह दिखाने के लिए कि लड़के—लड़कियों के अभि-भावक की आज्ञा मिलने पर ही दीक्षा दी जाती है। मैंने दो तीन आज्ञा-पत्र पढ़े, लगभग सब का एक ही मसविदा था। इस आज्ञा-पत्र के अन्तिम हिस्से में

कुछ इस आशय के शब्द है कि 'यह मैं जो आज्ञा देता हूँ, उसके कभी खिलाफ नहीं होऊँगा और पंचायत, राज दरबार ब्रिटिश सरकार में मेरी कोई आपत्ति नहीं चलेगी।' शब्द चाहे जो हैं, भाव कुछ इसी प्रकार का है। मुझे यह पढ़कर बड़ा आश्चर्य हुआ। जिस सामाजिक शक्ति और राज्य सत्ता को ये साधु कछ समझते ही नहीं, उनका कोई महत्व ही नहीं मानते, तब उनकी मदद की भावना को दर्शाने वाले शब्द आज्ञा-पत्र में क्यों लिखाये जाते हैं? पर भीतर की कमजोरी बाहर आए बिना नहीं रह सकती। कहीं कोई साधु-संस्था पर ही राज्य की मदद से नाबालिग बालकों के अपहरण (जिसको दीक्षा कहा जाता है) का अभियोग न लगा दें; इस भय के कारण ही आज्ञा-पत्र लेने और उसमें इस तरह के शब्द लिखाने की आवश्यकता हुई। मेरी आपत्ति पर पूज्यजी ने जवाब दिया कि 'यह कोई खास बात नहीं है। वर्षों से ऐसा ही स्वरूप चला आता है। एक दो दफा पहले झंझट आ चुकी है, इसलिये ऐसा कर दिया गया है।' साधुओं के लिए, अहिंसा को मानने वालों के लिए झंझट क्या हो सकती है और इससे बचने के लिए हिंसा-शक्ति पर आश्रित राज्य सत्ता की अप्रत्यक्ष मदद की भी उन्हें क्या दरकार है? साधुओं की अहिंसक शक्ति का यह एक नमूना है।

तेरा-पन्थी साधुओं का डाक से कोई सम्बन्ध है या नहीं, यह प्रश्न भी उठा। 'तरुण जैन' में इस बारे में मैंने पहले कुछ लिखा था; उसी को लेकर यह चर्चा चली। इस प्रश्न में 'तरुण' के पाठकों को भी दिलचस्पी होगी, इसलिए मैं इसके विषय में कुछ लिख रहा हूँ। मेरे यह कहने पर कि "आपके साधु भी जब डाक द्वारा आये हुए पत्र पढ़ते हैं और उन पर अपनी सम्मति भी देते हैं, तब डाक से आप का सम्बन्ध कैसे अलग माना जाय?" पूज्यजी ने कहा, "साधु केवल 'वंदना' के पत्र पढ़ते हैं, और कुछ नहीं पढ़ते; इसमें कोई दोष नहीं है।" मुझे मालूम पड़ा कि उन्हें इसी से सन्तोष है कि उनके नाम न तो कोई पत्र आता है और न वे पत्र लिखते हैं। हाँ, गृहस्थ कोई बात पूछता है, तो उसका जवाब देना तो उनका फर्ज है ही। मैंने पूछा—'आप से गृहस्थों को मिला हुआ जवाब उनके द्वारा दूर गाँवों में विचरण करने वाले साधुओं के पास डाक द्वारा उस गाँव के श्रावकों के मारफत पहुँचाया जाता है और उसे वहाँ वाले साधु आपकी आज्ञा मान कर ही स्वीकार करते हैं। इससे क्या आप यह नहीं मानते कि डाक के साथ आपका अप्रत्यक्ष सम्बन्ध हो जाता है चाहे आप खुद अपने नाम से पत्र व्यवहार न करें।" इस पर भी जब उन्होंने कहा—'नहीं', तब फिर चर्चा की

गुंजाइश ही नहीं रही। बात कुछ भी हो, मानना या न मानना तो उनकी मर्जी की बात है।

इसके बाद मैंने साधुओं के द्वारा बनाई हुई तसवीरें देखी, सुन्दर अक्षर-लेखन के उत्कृष्ट नमूने देखे, तेरा-पन्थी सम्प्रदाय के लिए प्रकट की हुई तारीफ के सरकारी गजट देखे; सन्त और सतियों की भीड़ देखी; श्रावकों की भक्ति और सेवा-भावना का अतिरेक देखा; साधुओं की दिनचर्या देखी और सुनी। यह भी सुना कि अमुक साधु ने २००० और अमुक ने ५०००-७००० श्लोक याद कर रखे हैं, पर मुझे तो असली साधुत्व के दर्शन करने थे। इन तसवीरों में, इन गजटों में, इन आज्ञा पत्रों में और इन हजार हजार श्लोकों की रटना में साधुत्व कहाँ से आवे? जिसकी आत्मा इतनी छोटी है कि संसार की वेदना को वह अपनी वेदना नहीं समझ सकता, संसार की समस्याओं को सुलझाने में कोई योग नहीं दे सकता, समाज और राष्ट्र को सच्चा मार्ग-दर्शन नहीं दे सकता, उसका कैसा आत्म कल्याण? शरीर से आत्मा अलग नहीं हो सकती, तो संसार और समाज से धर्म भी अलग नहीं हो सकता। आत्मा के विकास के लिए शरीर का पोषण किये बिना काम नहीं चलता, वैसे ही धर्म की साधना और विकास के लिए भी समाज और संसार की सेवा करना जरूरी है। स्वार्थ को छोड़कर निस्वार्थता का सम्बन्ध तो संसार

के साथ बना ही रहता है। दूसरे लोग निस्वार्थ भाव से, सेवा भाव से साधुओं के लिए सब कुछ कर सकते हैं; भोजन देते ही हैं, वस्त्र देते ही हैं, औषधि देते ही हैं, सेवा करते ही हैं, पर ये खुद अपने वर्ग के बाहर न किसी को भोजन दे सकते हैं, न औषधि दे सकते हैं, न सेवा कर सकते हैं, क्योंकि वैसा करना साधुत्व के खिलाफ है। खिलाफ क्यों है, इसका जवाब तो शास्त्रों से माँगना होगा।

इन साधुओं को लक्ष्य में रखकर ही मानों टाल्स्टाय ने लिखा होगा कि "उनके पास शास्त्रों के अलावा जीवन के प्रश्नों को हल करने का और कोई मार्ग ही नहीं है। अपने शास्त्र के बाहर की किसी भी नई बात पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने की बात तो दूर रही, वे दूसरे लोगों के ताजा मानवीय विचारों को समझने में भी असमर्थ होते जाते हैं। खास बात तो यह है कि ये जीवन का सर्वोत्कृष्ट समय जीवन के नियम को अर्थात् श्रम करने की आदत को भुलावे में ही खो देते हैं और बिना मिहनत किये ही संसार की चीजों के उपभोग करने का अपने को हकदार मानने लग जाते हैं। इस प्रकार वे बिल्कुल निकम्मे और समाज के लिए हानिकारक बन जाते हैं। उनके दिमाग बिगड़ जाते हैं और विचार करने की शक्ति नष्ट हो जाता है।"

मैं जानता हूँ कि साधु समाज के खिलाफ अपने सच्चे से सच्चे विचार प्रकट करना भी आज एक गुनाह समझा जाता है। इसलिए

यदि मेरे इन विचारों पर सम्प्रदायान्ध और धर्मान्ध लोग बिगड़ उठें तो कोई ताज्जुब की बात न होगी। धर्म गुरु भी यदि मेरे इन 'अशास्त्रीय' विचारों पर तिलमिला उठें तो मुझे कोई आश्चर्य नहीं होगा। ये विचार ऐसे हैं ही नहीं, जो आसानी से हजम हो सकें और खास तोर से उस व्यक्ति के लिये जिसमें कोई भी नई वस्तु हजम करने की ताकत ही नहीं रह गई है। पर मैंने तो अपने विचार निस्संकोच और निर्भीकता के साथ प्रकट कर दिये हैं। एक बात जरूर मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैंने तेरा-पन्थी सम्प्रदाय की आलोचना नहीं की है, पर उस निकम्मे जीवन की आलोचना जरूर की है जिसे मैं आज धर्म के नाम पर पोषण मिलता हुआ देखता हूँ। यद्यपि आज मैंने ये विचार तेरा-पन्थी सम्प्रदाय के साधुजी से हुई मुलाकात के प्रसंग में प्रकट किये हैं, पर थोड़े बहुत फर्क के साथ ये विचार आज सभी फिरकों के जैन साधुओं पर लागू होते हैं। कोई यदि इन विचारों को धर्म-द्रोही और शास्त्र-द्रोही कहे तो मुझे आपत्ति न होगी, पर यदि कोई इनको एक सम्प्रदाय विशेष की आलोचना के रूप में बतावेगा, तो इस तरह मेरे विचारों को गलत समझा जाने पर मुझे दुख होगा। पड़िहारा की मुलाकात के बारे में इतना ही।

श्री 'भग्न हृदय' की चिट्ठी

(तरुण जैन नामक मासिक पत्र अंक १ जनवरी १९४२ से उद्धृत)

मान्यवर सम्पादकोंजी !

गत दिसम्बर के अंक में आपका 'थली में पाँच दिन का प्रवास' लेख पढ़ा, पढ़कर उस पर विचार किया और विचार करने के बाद आपको यह पत्र लिख रहा हूँ। सब से पहले तो मुझे आप को यह उपालम्भ देना है कि आपने थली में जाने की मुझे सूचना भी नहीं दी। अगर आपकी सूचना मुझे मिल जाती तो मैं-भी अवश्य आपके साथ इन पाँच दिनों में घूमता और खासकर पूज्यजी के साथ आपकी जो मुलाकात हुई, उस समय मौजूद रहता जिससे पूरी पूरी बातचीत सुन पाता। आपने अपने लेख में बहुतसी बातों पर, शायद जल्दी और स्थानाभाव के कारण, केवल संकेत भर ही किया है, जिससे पूरी बातचीत को जानने की मेरी बड़ी उत्कण्ठा हो रही है। खैर, अब तो जो कुछ आपने अपने लेख में लिखा है, उसी से सन्तोष मानना होगा। अगर कोई विशेष बातें बाकी रही हों, तो उन पर फिर कभी प्रकाश डालें तो अच्छा हो।

मेरा और मेरे कुछ दूसरे मित्रों का भी ऐसा खयाल है कि पूज्यजी से मुलाकात करने वाले जितने विद्वान् उनके पास आये, उनमें से किसी ने भी इतनी स्पष्टता के साथ अपने विचार प्रकट नहीं किये जितने कि आपके लेख में मिलते हैं। मैं समझता हूँ कि आपकी स्पष्टता और सचाई की तो पूज्यजी महाराज पर भी अवश्य छाप पड़ी होगी। आपके इस लेख से एक बड़ा फायदा यह भी हुआ कि अब भविष्य में पूज्य श्री यह कहने का साहस नहीं करेंगे कि हमारे पास जो लोग आकर बातचीत कर गये, उनकी सब शंकाएँ हमने दूर कर दी और उन्होंने हमारी बात मंजूर करली। अब तक तो पूज्यजी मुलाकात करने के लिए आने वाले किसी भी व्यक्ति को यह बात अवश्य कहा करते थे। शायद आपसे भी अवश्य कहा होगा। आने वाले व्यक्ति पर अपना प्रभाव डालने के लिए ही ऐसा कहा जाता है और करीब करीब लोग इस प्रभाव में आ ही जाते हैं, क्योंकि हर एक को तो भीतरी अवस्था का पता नहीं होता। आपने अपनी खरी राय इतनी स्पष्टता के साथ प्रकट कर जिस साहस का परिचय दिया है, उस से अवश्य समाज की आँखें खुलेंगी, ऐसा मेरा पक्का विश्वास है।

आपने एक बार किसी पत्र में लिखा था कि 'आपकी सम्प्रदाय के साधुओं के क्रिया कलाप के बारे में मैं बहुत कम जानता हूँ। अच्छा हुआ कि इस बार आप स्वयं अपनी आँखों से हमारे साधु

संस्था की लीला भी देख आये; और जो कुछ देखा उसका वर्णन भी कर दिया। मैं समझता हूँ आप पड़िहारा में जो देख कर आये हैं उसके बाद मेरे इस कथन से अवश्य सहमत हुए होंगे कि साधु संस्था का मानस आज बिलकुल गलित हो चुका है। उसमें जो कुछ डाला जाता है, वह सब सड़ और गल जाता है, कोई मौलिक वस्तु तो वहाँ पैदा ही नहीं हो सकती। ऐसे लोगों के हाथों में जिस धर्म और समाज का नेतृत्व हो, उसका भविष्य अन्धकार मय है। अयोग्य हाथों में पड़कर अच्छे से अच्छे साधन भी निष्फल और निरर्थक हो जाते हैं, यह कहावत आज हमारे साधुओं के विषय में पूरी तरह सत्य साबित हो रही है। अहिंसा का शक्ति शाली शस्त्र गलत तरह से प्रयोग किये जाने के कारण तेज प्रदान करने के बदले हमें निराश बना रहा है। मैं यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि थली की बौद्धिक और सांस्कृतिक दृष्टि से आज जो अवस्था उत्पन्न हुई है, उसके कारणों में समाज के प्रति साधु संस्था की मनोवृत्ति ही मुख्य है। यह मनोवृत्ति गहरी निराशाजनक है। जब तक यह मनोवृत्ति रहेगी, तब तक थली के लोगों की दिमागी और तहजीबी हालत में कोई सुधार नहीं होगा। और मानवता का कोई मूल्य यहाँ के लोग नहीं समझेंगे। जो लोग कभी कदास इन साधुओं के पास आ जाते हैं, उनके सामने ये ऐसी उत्कट नैतिकता और कष्ट-

सहन का चित्र खींचते हैं कि वह इनकी असली हालत को जाने बिना ही इनकी तारीफ करने लगता है। अपने त्याग की हरेक बात को इतनी बढ़ा कर आने वाले को वे कहते हैं कि उससे भोले व्यक्ति प्रवञ्चना में फँस जाते हैं। ये साधु अपने श्रावकों के सामाजिक और लौकिक कार्यों से अपने को बिलकुल मुक्त बतलाते हैं। पर यह बिलकुल झूँठ है क्योंकि दुनिया का कोई काम ऐसा बाकी नहीं रहा है, जिसका इन्होंने पाप और धर्म में बँटवारा न कर दिया हो। पाप और धर्म की सूचियों में सभी कार्यों का वे वर्गीकरण कर देते हैं और रात दिन यह उपदेश दिया करते हैं कि धर्म करने का और पाप नहीं करने का है, इनके धर्म का मानवता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए मानव जाति की उन्नति के जितने कार्य हैं, वे सब पाप की सूची में रखे गये हैं। हमारे साधुओं ने सिखाया है कि जब तक उनकी तरह किसी ने संसार का त्याग कर पंच महाव्रत नहीं धारण किये हैं, तब तक उसकी सेवा करने या उसको दान देने में धर्म नहीं है, बल्कि कर्म-बन्धन स्वरूप पाप है। समाज के बालक बालिकाओं के लिए शिक्षालय या स्वास्थ्यालय खोलना भी हमारे साधुओं के उपदेशानुसार धर्म कार्यों की सूची में नहीं आता। इस तरह यह धर्म, समाज के लिए कुछ भी नहीं करता, बल्कि किये जाते को रोकता है, और फिर भी जैसा आपने बहुत ठीक ठीक लिखा

है, समाज से अपने लिए नाना भाँति की सेवा लेते रहने में कोई आपत्ति नहीं समझता। आप अगर १०-१५ दिन लगातार हमारे साधुओं को सेवा (!) का लाभ लें तो आपको पता लगेगा कि जहाँ पूज्यजी की सवारी पहुँच जाती है, वहाँ के समाज की इस सेवा के भार से क्या हालत हो जाती है। माघ महोत्सव और चातुर्मास के दिनों में गाँव वालों की परेशानियाँ इतनी बढ़ जाती हैं, कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं।

सम्पादकोंजी! मुझे सचमुच अपने समाज के उन हजारों स्त्री पुरुषों पर तरस आता है, जो विवेक की आँखे बन्द हो जाने के कारण इनके जाल में फँसे हुए हैं। थली के गाँवों की सार्वजनिक और साँस्कृतिक हालत का जो दिग्दर्शन आपने अपने लेख में कराया है, उसको पढ़कर क्या हमें शर्म नहीं आती? हमारा मस्तक झुक जाता है, हमारा यौवन बलबा कर उठता है, पर क्या करें सम्पादकोंजी! यह सब हमारे उन साधुओं की कृपा है। जहाँ ये बिराजते हैं, वहाँ आस पास कोसों तक मानवता के खेत सूख जाते हैं क्योंकि इनके उपदेश ही ऐसे हैं। हम जानते हैं कि इससे जैन धर्म कलंकित हो रहा है क्योंकि हमारी तरफ की जनता तो इन्हीं जैन मूर्त्तियों को ज्यादा देखती है, और इस बात से प्रभावित भी होती है कि इनको मानने वाले सब सेठ लोग हैं, लाखों और करोड़ों रुपया कमाते हैं। ये साधु खुद तो परिवार,

गाँव, समाज और देश के धर्म को मानते ही नहीं और उनके प्रति कोई जिम्मेवारी भी नहीं समझते, पर हम लोगों को भी इन सब कामों में एकान्त पाप ही पाप बताया करते हैं। तब आप ही बताइये; हमारे गाँवों की हमारे समाज की और हमारी ओर से देश की हालत कैसे अच्छी हो? हमारे बालक और बालिकाओं में दूसरे संस्कार कैसे पड़े? उनके अन्दर समाज और देश की सेवा की महत्वकांक्षाएँ कैसे उत्पन्न हों, जब कि उन्हें यही सिखाया जाता है कि अगर तुम्हें अपना जीवन सफल करना है; सच्ची उन्नति करना है तो संसार को छोड़ो और हमारी टोली में शामिल हो जाओ। सचमुच इस टोली में जाते ही मनुष्य को सारे सुख मिल जाते हैं। बिना परिश्रम किये विभिन्न प्रकार का स्वादिष्ट भोजन मिलता है, पहनने को कपड़े मिल जाते हैं, और रात दिन हजारों स्त्री पुरुषों की सेवा? इससे ज्यादा और सुख की कल्पना ही क्या हो सकती है? इसी सुख—इसी 'आत्म कल्याण' के लिए हर वर्ष उमीदवारों की संख्या बढ़ती जाती है। पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की तरह इसमें भी ज्यों ज्यों संख्या बढ़ती जाती हैं, त्यों त्यों इस टोली की सत्ता भी बढ़ रही है जिसने हमारे सारे समाज को गुमराह बना दिया है।

इतना सब होते हुए भी, अब भीतर ही भीतर युवकों में असन्तोष की अग्नि जल रही है। दुनिया की तरफ से वे आँखें

बन्द नहीं कर सकते और जब दुनिया की तरफ देखते हैं, दुनिया की जटिल समस्याओं पर गौर करते हैं, तो यह महसूस किये बिना भी नहीं रह सकते कि उनको मिलने वाले उपदेश उन्हें ह्रास की ओर ले जा रहे हैं। आज के युवक को मन्दिरों के साज शृंगार अच्छे नहीं लगते हैं, न इन सफेदपोश रूढ़िगामी मुफ्त-खोरों की सादगी ही पसन्द आती है। वह तो जीवन का पुजारी है, मानवता का भक्त है और विश्व-प्रेम का प्रेमी है। आज आपने जिस थली में निराशा के बादल घिरे हुए देखे हैं, उसी में कुछ वर्षों बाद आप वह जबर्दस्त विचार क्रांति देखें तो कोई आश्चर्य नहीं, जो वर्षों तक दबे हुए विचारों में से उत्पन्न होती है। 'तरुण जैन' ने दो वर्षों में थली में बहुत बड़ा काम किया है, जिसका वास्तविक मूल्य आज नहीं समझा जा सकता, पर उस दिन मालूम होगा, जब कि थली की काया पलट होगी। मैं 'तरुण जैन' का इसी शुभ कामना के साथ, नये वर्ष के प्रारम्भ में अभिनन्दन करता हूँ।

आपका—'भग्न हृदय'

चिट्ठी-पत्री

('तरुण जैन' नामक मासिक पत्र अंक ३ मार्च १९४२ से उद्धृत)

मान्यवर सम्पादक महोदय !

मैं यह पत्र आपकी सेवा में पहिले-पहल ही प्रेषित कर रहा हूँ। सब से पहिले मैं आपको मेरा कुछ परिचय दे दूँ। मैं थली प्रान्त के एक बड़े शहर का रहने वाला और दस्से-बीसे से भी बढ़कर पच्चीसा तीसा ओसवाल हूँ। शायद अन्य लोगों की तरह आप भी पूछ बैठें कि मैं किस मजहब को मानने वाला हूँ ? पहिले ही कह दूँ कि मैं इस वक्त जैन श्वेताम्बर पौने तेरा-पन्थी हूँ। आप शायद इसको मजाक समझेंगे, मगर मैं आप से कसमिया कहता हूँ कि आपके 'तरुण' ने और खास करके आपके दो लेखकों ने मेरा पाव पंथ घिस डाला। आप समझ गये होंगे, दो लेखकों से मेरा मतलब किन से है। आपको मालूम रहना चाहिये कि मैं पुश्तैनी जैन श्वेताम्बर तेरा-पन्थ मजहब का कट्टर श्रावक था, मगर आपके इन दो गजब के लेखकों ने हनुमानजी के पाव रोम की तरह मेरा पाव पन्थ काट डाला। मुझे अब यह

भय है कि कहीं मेरा रहा सहा पन्थ ही न उड़ जाय। श्री 'भग्न हृदय' जी के लेखों को तो मैं जैसे तैसे हजम कर गया। मैंने सोचा कि चलो साधुओं के क्रिया कलाप और आचरण दुरुस्त नहीं रहे हों तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, पञ्चम काल है, हुण्डा अवसर्पिणी का समय है, मगर श्री बच्छराजजी सिंघी के लेखों ने तो मेरा पन्थ ही उड़ाना प्रारम्भ कर दिया। अब तो मैं देख रहा हूँ, यह पौने तेरह भी कायम रहना कठिन हो रहा है। मुझे यह पूर्ण विश्वास था कि हमारे पूज्यजी महाराज, जो शास्त्र फरमाते हैं, वे सोलह आना ठीक और अक्षर अक्षर सत्य हैं मगर सिंघीजी के लेखों ने तो आँखों की पट्टी खोल दी। सम्भवतः मुँह की पट्टी भी जो कभी कभी लगा लेता हूँ, अब खतरे में है।

हमारे पूज्यजी महाराज जब थली प्रान्त में बिराजते हैं, तब अक्सर मैं सेवा में साथ साथ रहता हूँ। मैं देख रहा हूँ, जब से ये शास्त्रों की बातें, 'तरुण' में आने लगी हैं, हमारे मोटके सन्त आपके 'तरुण' की इन्तजारी में बाट जोते रहते हैं। इधर कुछ समय से आपके 'तरुण' ने भी नखरे से पेश कदमी शुरू कर दी है। 'तरुण' के पहुँचते ही मोटके सन्तों की मीटिंगें होने लगती हैं। पूज्यजी महाराज भी पढ़ते हैं। वातावरण में कुछ हलचल सी मच जाती है। उस दिन मेरे सामने ही 'तरुण' की बातें चल रही थीं। एक अनन्य भक्त और विश्वास पात्र श्रावक अर्ज कर रहे थे

कि महाराज! आप शिक्षा प्रचार में पाप बता रहे हैं मगर शिक्षा का सम्बन्ध अब आजीविका से जुड़ा हुआ है। केवल आपके पाप बताने से लोग पढ़ने से रुक नहीं जायँगे। लोग जैसे जैसे शिक्षित होंगे, उनमें तर्क और ज्ञान बढ़ेगा। ज्ञान बढ़ने से प्रत्यक्ष गणित से असत्य साबित होने वाली बातों की अक्षर अक्षर सत्यता की आपकी मोहर (छाप) टूटे बगैर कैसे रहेगी? महाराज ने गम्भीर होकर उत्तर दिया कि 'यह विचारने की बात हो रही है।' सम्पादकोंजी! मुझे तो अब कुछ न कुछ समाज सुधार की तरफ रवैया बदलता प्रतीत हो रहा है; चाहे उपदेश की शैली बदल कर, चाहे श्रावकों द्वारा समाज सुधार के लिए कोई संघ या सभा कायम होकर; और अब भी कुछ न हो तो महान् विनाश निकट ही है। पर मुझे विश्वास होने लगा है कि आपके 'तरुण' की उछल कूद खाली नहीं जाने की।

कुछ दिन पहिले मैं कार्यवशात् सुजानगढ़ गया था। सिंघीजी से भी मिला। बड़े सज्जन प्रतीत होते थे। मैंने कहा, "आपके 'तरुण' के लेखों में शास्त्रों की बातों को असत्य प्रमाणित करने की सामग्री तो लाजवाब है, मगर आप सर्वज्ञता के शब्द साथ कहीं कहीं मजाक से पेश आ रहे हैं। यह बात मेरे हृदय में खटकती है।" वे कहने लगे, "क्या आप स्वीकार करते हैं कि सर्वज्ञों की बात प्रत्यक्ष में असत्य हो सकती है। यदि नहीं तो ऐसी

बातों के कहने वालों को आप सर्वज्ञ समझें ही क्यों? सर्वज्ञ सत्य के कहने वाले ही होंगे, और उनके साथ मजाक करने की मजाल ही किस की है?" फिर वे कहने लगे, "मैंने ऐसा सोच समझ कर ही किया है कारण यदि मैं दूसरी शैली से लिखता तो इन लेखों को रुचि से कोई पढ़ता तक नहीं। एक तो यह शास्त्रों का विषय ही शुष्क ठहरा और दूसरे उपदेशकों ने अपनी 'सन्तवाणी' द्वारा सैंकड़ों वर्षों के लगातार प्रयत्न से लोगों को शास्त्रों के अन्ध भक्त बना दिये हैं। इसलिए बिना चुभने वाले शब्दों से मुझे असर होता नहीं दिखा।" सिंघीजी की बात कुछ मेरे भी जँची। खैर, आप मुझ से परिचित तो हो ही गये हैं। थली प्रान्त की हलचलों के बाबत आपको कभी कुछ पूछना हो तो मुझ से पूछ लिया करें। आप संकोच न करें। मेरा हृदय विशाल है, मैं साफ कहूँगा। समय समय पर मैं स्वयं भी आपको यहाँ की गति विधि से वाकिफ करता रहूँगा।

आपका—'थली वासी'

परिशिष्ट नं० २

तेरह-पन्थ और जैन पत्र

(श्वे० [मू०] सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक "जैन" पत्र के ता०
मार्च १९४२ पृष्ट १४७ पर सामयिक स्फूरणा में से अनुवादित)

चोपड़ाजी का तेरा-पन्थी इतिहास
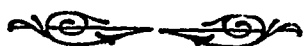
तेरा-पन्थ की मान्यताओं एवं आचार व्यवहार के विषय में हाल में अनुकूल तथा प्रतिकूल चर्चा चलती हुई बाँचने में आती है। कोई २ तो ऐसी अतिशयोक्तिएँ एवं मिथ्या स्तुतिएं करते हैं कि बुद्धिमान लोगों को कंटाला उत्पन्न किये बिना नहीं रहतीं और कोई २ बार ऐसे आक्षेप करने में आते हैं कि सचमुच तेरह-पन्थ का स्वरूप क्या होगा, उस बाबत जरा भी प्रकाश नहीं मिले, ऐसी स्थिती में वकील छोगमलजी चोपड़ा जैन श्वेताम्बर तेरा-पन्थी

सभा के मन्त्री ने छपवा कर प्रकाशित किया हुआ, इस सभा का संक्षिप्त इतिहास अपने को कतिपय अंशों में उपयोगी सिद्ध होगा। श्रीयुत् चोपड़ाजी का गुजराती भाषा पर, जैसा चाहिये वैसा काबु नहीं है, इसलिये वे क्या कहना चाहते है वह कहीं २ पर बहुत अस्पष्ट हो रहा है। लगभग ८० पृष्ठ की पुस्तिका में ६ पृष्ठ भरा, इतना तो शुद्धि पत्रक है। श्री वकील चोपड़ाजी का आशय "तेरा-पन्थी मत के सिद्धान्तों का रहस्य न समझ सकने के कारण बहुत से लोग दूसरों को निन्दा करने, तथा भोले भाईयों को बहकाने के लिये, गम्भीर दार्शनिक तत्व को उलटा कर निरर्थक कागज स्याही और समय का दुरुपयोग करते है, वह रोकने का है।

तेरा-पन्थी अपने को श्वेताम्बर जैन धर्म की शाखा के अनुयायी कहलाते हैं, इनके विषय में जो कुछ गैर समझ होती हो, उनके सिद्धान्तों का उलटा प्रचार होता हो तो उसका प्रतिकार करना यह जैन धर्म के प्रत्येक अनुयायी का प्रथम फर्ज है। तेरह-पन्थी की निन्दा अथवा बुराई दिखाना एक तरह जैन धर्म की ही अवहेलना है, कारण कि जो शाखा प्रशाखा के भेद को नहीं जानते, वे तेरह-पन्थ को ही जैन धर्म समझ कर जैन दर्शन की अवहेलना करते हैं।

वकील छोगमलजी चोपड़ा कहते हैं कि तेरा-पन्थ विरुद्ध, कितनेक ऐसी झूठी बातें फैलाते हैं, कि 'यह मत दया दान रहित

है,' बहुत से लोगों ने यह हकीकत सुनी होगी। श्रीयुत् चोपड़ाजी इस आक्षेप का परिहार करने को उत्सुक हैं, परन्तु हमें यह कहते हुए दिलगीरी (खेद) होती है कि वकील महाशय स्वयं ही आक्षेप का प्रतिकार करने के बदले समर्थन करते हों, ऐसा प्रतीत होता है।

वकील महोदय ने रजू कियां हुवा, एक कल्पित प्रसंग यहाँ विचारते हैं, कि इनके स्वयं के शब्दों में ही भूत दया सम्बन्धी प्रश्न और उत्तर दोनों तपासें—

× × × × ×

प्रश्न—एक अनाथ बालक जाता हो, उसके पेट में कोई नराधम छुरी भोंकदे तो दया धर्मी को उस समय क्या करना ?

"उत्तर में वकील छोगमलजी चोपड़ा कहते हैं कि—जिनाज्ञा प्रमाणे चलने वाले साधु साध्वी ऐसे अवसर में मजकुर अनाथ बालक को बचा सकते नहीं, वे तो उपदेश देकर घातक को दुष्कृत्य से निवृत्त करें, अन्यथा जो यह देखना असह्य हो तो वे उस जगह को छोड़कर दूसरी जगह पर चले जायँ। उपदेश से हिंसक को समझा कर दुष्कृत्य से निवृत्त करना वीतराग प्ररूपित धर्म है किन्तु बल प्रयोग, लालच या शरमा-शरमी से खाजे, लाजे, त्राजे करके बचाने में श्री जिनेश्वर का धर्म नहीं। अतः बल प्रयोग से किसी को कष्ट पहुँचा कर बचा लेना यह श्री जिनेश्वर कथित धर्म नहीं है।"

× × × × ×

उपदेश देने जितना अवकाश नहीं रहा हो, अथवा उपदेश से वह घातक समझे ऐसा न हो, किन्तु उस समय हिम्मत भरा हुवा पडकार करने मात्र से जो दुष्ट मनुष्य के गात्र थरथरा जाते हों तो भी सिर्फ उपदेश ही सुनाना और यह दृश्य न देखा जाता हो तो वहाँ से चले जाना, भाग छुटना, इसमें दया, अहिंसा या जिन देव प्ररूपित सिद्धान्त की बात तो दूर रही, मनुष्य की मानवता ही कहाँ रही। और जो साधु साध्वी नहीं कर सके, यानि मरते प्राणि को बचाने की क्रिया, जो संसार त्यागी विरागी भी नहीं कर सके, वह श्रावक श्राविका से तो बने ही कैसे ? पामरता की इससे अधिक मर्यादा दूसरी क्या हो सके।

घातक का घातकीपन और निर्दोष बालक की हत्या यह सब शुभाशुभ कर्म का परिणाम है, ऐसा यह वकील भाई अपने को व्यवहार के विषय में भी जँचाना चाहते है, परन्तु यह तत्व-ज्ञान मूल भूमिका बगैर का होने से यहाँ टिक नहीं सकता, कंगाल बन जाता है।

जैन धर्म के उच्चतम सिद्धान्तों का यह दुरुपयोग नहीं तो अन्य क्या कहा जाय ? तेरह-पन्थ की जमात जो वृद्धि पामें यानि जगत भर में तेरा-पन्थ मान्यता प्रवर्त हो जाय तो समाज की कैसी स्थिती हो ? कदाच समाज जैसा ही कुछ रहने नहीं पावे।

× × × × ×

तेरा-पन्थ के सिद्धान्त के सम्बन्ध में टीका करने के उद्देश्य से हम यह नहीं करते। आज का युग धर्म प्रत्येक नागरिक के पास से निर्भयता की और समाज कुटुम्ब तथा राष्ट्र के लिये अधिक से अधिक बलीदान की माँगणी कर रहा है, ऐसे समय में तेरा-पन्थ के सिद्धान्त का प्रचार बिलकुल हास्यास्पद बने और जैन शासन तथा जैन संस्कृति की अवहेलना हो, ऐसा पूर्ण भय रहता है।

परिशिष्ट नं० ३

तेरा-पन्थ अने तेनी मान्यताओ

(ले०—श्रीमान् चीमनलाल चकूभाई शाह J. P., M. A. LL. B.)

सोलीसीटर टु धी बोम्बे गवर्नमेन्ट

सेक्रेटरी—श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फरेन्स.

आपणा समाजनुं सतत हीत चिन्तवता एक मुनिराजे कान्फरन्सनुं ध्यान खेंच्युं छे के आ वर्षे तेरा-पन्थी साधुओ गुजरात काठीयावाडमां उतर्यां छे अने केटलेक स्थळे चातुर्मास करी पोताना पन्थनो प्रचार करे छे. गुजरात काठीयावाडमां तेरापन्थनुं नामनुं ज स्थान छे, काठीयावाडमां तो हुं जाणुं छुं त्यां सुधी बिलकुल नथी ज्यारे गुजरातमां सुरतमां ज २–४ कुटुम्ब आ पन्थनां अनुयायी छे.

तेरा-पन्थ स्थानकवासी सम्प्रदायमांथी लगभग १७५ वर्ष पूर्वे जुदो पडेल नवो पन्थ छे. तेनां साधु साध्वीओ स्थानकवासी साधु साध्वी जेवो ज पहेरवेश पहेरे छे, सिवाय के ध्यान पूर्वक जोवामां आवे तो खबर पडे के तेमनी मुंहपत्ति विशेष लांबी अने पहोळाइमां

टुंकी होय छे. पण आ हकीकतनो जेने ख्याल न होय तेओ आ साधु साध्वीओने स्थानकवासी सम्प्रदायनां साधु साध्वीओ ज माने. तेमनो उपदेश पण ३२ सूत्रो उपर ज रचायेलो छे एम तेमनो दावो छे अने आचारमां पण तेओ देखीती रीते स्थानकवासी साधुनां आचार पाळे छे. एटले कोई पण भ्रमणामां पडे एवुं छे. तो एक सवाल ऊभो थाय के तेमनो विरोध शा माटे करवामां आवे छे.

आपणा सम्प्रदायनां अग्रगण्य साधु मुनिराजो अने श्रावको जेमने तेरा-पन्थनो पुरतो अंगत अनुभव छे तेवाओए चेतवणी आपी छे के, तेरा-पन्थी मान्यताओ स्थानकवासी सम्प्रदायनी मान्यताओथी सदंतर विरोधी छे, एटलुंज नहि पण जैन धर्मनां सिद्धांतोथी विरोधी छे. अने तेरा-पन्थी साधुओनां बाह्य आचारथी आकर्षाइ आपणा भाईओ तेमनी मान्यताओ तरफ वळशे तो स्थानकवासी सम्प्रदायने अने जैन धर्म ने मोटी हानि थवानो सम्भव छे. एक भाइए मने लख्युं छे के आपणां केटलाक अनुभवी साधुजीओए तेरा-पन्थ विषे तेमने केटलीक वातो कही ते कमकमाटी उपजावे तेवी छे.

आ उपरथी मारी जिज्ञासा वधी, अने में तेरा-पन्थ संबंधे कांइक जाणवा प्रयत्न कर्यो. आज अरसामां मने केटलाक तेरा-पन्थी श्रावकोनो परिचय थयो अने तेमनी साथे लंबाणथी में चर्चा करी, तेमज तेमनुं केटलुंक साहित्य मेळव्युं. थोडा दिवस पहेलां कल-

कत्ताना श्री सिद्धराजजी ढड्ढा जेओ कलकत्तानी ईन्डीयन मरचंन्टस चेम्बरना मन्त्री छे तथा तरुण जैनना तन्त्री श्री भँवरमलजी सिंघी ने मळवानो मने प्रसंग मळ्यो. कलकत्ताना जैनोमां मोटो भाग तेरा-पन्थी मारवाडीओनो छे. तेमनी रहेणी करणी, विचारश्रेणी, स्थितीचुस्तता अने अहिंसा सम्बन्धेना खोटा ख्यालोनी विगतवार हकीकतो ए भाइओ पासेथी में सांभळी.

मारे तेरा-पन्थ विषे लखतां पहेलां तेथी पण विशेष माहीति मेळववी हती. एटले विशेष तपास करी तो जणायुं के पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज साहेबे 'सद्धर्म मण्डन' नामे एक ग्रन्थ लख्यो छे जेमां तेरा-पन्थना आचार्य जीतमलजीनुं लखेल एक पुस्तक "भ्रम विध्वंसन" नुं खण्डन करवामां आव्युं छे ते पुस्तक मेळवी जोइ गयो. तेमां शास्त्रनां संख्याबंध आधारो टांकी तेरा-पन्थी मान्यताओनुं सफल खण्डन कर्युं छे. मारवाडमां आ संबंधे खूब वादविवाद थयो हतो अने थाय छे श्री सद्धर्म मण्डननी प्रस्तावनामां तेरा-पन्थी मान्यताओ संबंधे केटलीक हकीकतो लखी छे जे आपणे मानी न शकीए तेवी छे. कोई पण सम्प्रदाय के व्यक्ति पछी ते जैन होय के अजैन एवी मान्यताओ धरावे ए मने तो असंभव लाग्युं छतां तेनां घणां पुरावाओ आपवामां आवे छे.

आवी मान्यताओनां केटलाक नमुनाओ, ते प्रस्तावनामां आप्या छे दाखल तरीके—

(१) गायोथी भरेल वाडामां आग लागे अने कोई दयावान पुरुष ए वाडानुं द्वार खोली गायोनी रक्षा करे तेने तेरा-पन्थी एकान्त पाप कहे छे.

(२) ऋण मजला उपरथी कोई बालक पडतुं होय तो तेने उपरथी पकड़ी बचावनार दयावान पुरुषने तेरा-पन्थी पाप करतो माने छे.

(३) तेरा-पन्थी साधुओ सिवाय संसारमां सर्व प्राणीओ 'कुपात्र' छे.

आ वस्तु वांचीने मने घणुं आश्चर्य थयुं. आवी मान्यताओ धरावती तात्विक भूमिका समजवा हुँ प्रयत्न करी रह्यो छुं. दुर्भाग्ये तेरा-पन्थी साहित्य घणुं खरूं मारवाड़ीमां छे जे मने मळ्युं नथी. छतां जे थोडुं मल्युं छे ते तेमज तेमनां श्रावको तथा श्री सिद्धराजजी ढड्ढा अने श्री सिंघी साथे मारे जे वातचीत थई ते उपरथी तेरा-पन्थ साधुओनो उपदेश आवी कोईक मांयताओमां परिणामे एम मने लागे छे.

× × × × ×

तेरा-पन्थी मान्यताओमां जैन धर्मनी साची भावनाओ होत तो तेनु प्रतिबिम्ब आपणे तेरा-पन्थी श्रावक समुदायमां जोई शकत आपणने जे जोवा मळे छे ते तेथी तद्दन विपरीत छे.

भाई श्री सिद्धराजजी ढड्ढा अने श्री भँवरमलजी सिंघीए कलकत्ताना तेरा-पन्थी समाजनी स्थिति मने वर्णवी ते उपरथी जणाय छे के तेओ अत्यन्त स्थिति चुस्त अने जड छे. सामाजिक कोई पण कार्यमां भाग न ले. समाज सेवामां तेओ धर्म मानता

नथी. गरीबोने मदद करवी, भूख्याने अन्न आपवुं, निरक्षरने ज्ञान आपवुं, दर्दीने तबीबी राहत आपवी अथवा तेनी सारवार करवी, समाज उपयोगी कोई पण कार्य करवुं तेमां तेओ धर्म मानता नथी. तेमनां मत मुजब अने तेरा-पन्थी मान्यता मुजब आ बधा सांसारिक कार्यो छे. जेनी प्रवृत्तिमां कर्म बंधन छे. जेथी संसार वधे छे अने तेथी ते मोक्षमार्ग नथी. तेरा-पन्थीओ दाननां विरोधी कहेवाय छे तेनुं आ कारण छे.

तेवाज ख्यालो अने मान्यताओ जीवदया अने प्राणीरक्षा संबंधे छे. कोई जीवनी रक्षा करवी अने तेने बचाववो तेमां तेओ धर्म मानता नथी. आ कथन कदाच आश्चर्यकारक लागशे तेथी जरा विस्तृत रीते समजावुं. दयाना बे प्रकार—स्वदया अने परदया अथवा जीवरक्षा. तेरा-पन्थी स्वदयामां माने छे एटले के पोते कोई जीवनी हिंसा करे नहि, करावे नहि अथवा करतां प्रत्ये अनुमोदे नहि. पण परदया अथवा जीवरक्षामां नथी मानता. एटले के, कोई जीवने मरतां बचाववो तेमां धर्म नथी मानता. तेनो प्रख्यात दाखलो बिलाडी उंदरने मारवा जती होय तो तेओ अटकावे नहि. माणस मरी जतो होय तो तेने बचाववामां धर्म माने नहि. आवी मान्यता माटे कारणो घणां दर्शाववामां आवे छे. एक तो एम कहेवामां आवे छे के ते माणस बचशे तो सांसारिक प्रवृत्ति करशे, तेने कर्मबन्धन थशे, जेनो दोष बचावनारने लागशे. सौ सौनां कर्म

प्रमाणे दरेकनुं थाय छे. तेमां बीजा कोइए वचे पडवानी जरूर नथी, वच्चे पडवामां धर्म नथी. कदाच पाप छे एम खुल्ही रीते न कहे.

आवा कारणे तेरा-पन्थीओ दयादानना विरोधी कहेवाय छे. आ सिद्धान्तो जैन धर्मना साचा सिद्धान्तो छे एवो तेमनो दावो छे. आवी मान्यताओ बराबर अमलमां मूकाय तो तेनां केटला भयंकर अने विपरीत परिणामो आवे तेनी कल्पना करवी मुश्केल नथी. तेरा-पन्थी श्रावको साथे चर्चा करीए त्यारे तेमनी मान्यताओना आवा परिणामो आवे ते तेमने कहीए त्यारे तेओ पण भडकी बेठे छे. आ परिणामो स्वीकारवानी तेमनी हिम्मत नथी. अन्ते "अमे न जाणीए, महाराजजी जाणे" एम कहीने उभा रहेशे. तेरा-पन्थी साधुओ साथे चर्चा करो त्यारे गोळ गोळ जवाब आपशे. तेमनामां पण तेमनी मान्यताओनां अचूक परिणामो प्रकटपणे स्वीकारवानी हिम्मत नथी. भूख्याने अन्न आपवामां धर्म नथी, मांदानी मावजत करवामां धर्म नथी, समाज सेवामां धर्म नथी, मरतां जीवने बचवावामां धर्म नथी, एवुं स्पष्टपणे तेओ कहेतां अचकाशे. तेरा-पन्थी साधुओनां परिचयमां आवनार भाइओने मारी विनंति छे के तेमनी पासेथी स्पष्ट जवाब लेजो के उपरनी प्रवृत्तिओमां धर्म छे के पाप ?

(जैन प्रकाश—ता. २६—७—४ तथा ता. ९—८—४१)